श्री गणेशप्रसाद वर्णी दि० जैन ग्रन्थमाला, पुष्प : ३२

जैन-न्याय

भाग २

लेखक
सिद्धान्ताचार्य (स्व.) पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री
पूर्व-प्राचार्य, श्री स्याद्वाद महाविद्यालय
भदैनी, वाराणसी

सम्पादक
डॉ. कमलेशकुमार जैन
जैनदर्शन-प्राध्यापक
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रकाशक
श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान
वाराणसी

वी० नि० संवत् २५१५] [ई० १९८९

ग्रन्थमाला सम्पादक :

डॉ० राजाराम जैन
यूनिवर्सिटी प्रोफेसर (प्राकृत) एवं
अध्यक्ष, संस्कृत-प्राकृत विभाग
ह० दा० जैन कालेज, आरा (बिहार)

प्रो० उदयचन्द्र जैन
पूर्व अध्यक्ष, दर्शन विभाग
संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रकाशक :

© श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान
नरिया, वाराणसी-२२१००५
(उत्तर प्रदेश)

प्रथम संस्करण १९८९

११०० प्रतियाँ

मूल्य : पुस्तकालय संस्करण पचास रुपये
साधारण संस्करण तीस रुपये

मुद्रक :
तारा प्रिंटिंग वर्क्स, कमच्छा
वाराणसी

Shri Ganesh Prasad Varni Dig Jaina Granthamālā No. : 32

JAINA-NYĀYA

Part II

By

Late Pt KAILASH CHANDRA SHASTRI

Ex-Principal, Shri Syadwad Mahavidyalay

Bhadaini, Varanasi

Edited by

DR. KAMALESH KUMAR JAIN

Lecturer in Jainadarśana

Banaras Hindu University

Varanasi

Published by

SHRI GANESH VARNI D. J. SANSTHAN

VARANASI

V. N. S. : 2515] [1989 A. D.

General Editors

Dr. Rajaram Jain
University Prof. of Prakrit and
Head of the Dept. of Sanskrit & Prakrit
Magadh University P. G Centre
H D Jain College, Arrah (Bihar)

Prof. Udaya Chandra Jain
Ex-Head of the Dept of Darśan
Faculty of Sanskrit Learning & Theology
B H U, Varanasi

Published by

© Shri Ganesh Varni Digambar Jain Sansthan
Naria, Varanasi-221005

First Edition 1989

1100 Copies

Price . Library Edition Rs 50·00 only
General Edition Rs. 30 00 only

Printed by

Tara Printing Works
Varanasi

प्रकाशकीय

श्रद्धेय पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री जैन-धर्म-दर्शन एवं न्यायशास्त्र के उन महारथी विद्वानों में अग्रणी थे, जिन्होंने न केवल प्राच्य परिपाटी से जैनशास्त्रों का अध्ययन, मनन एवं चिन्तन किया, अपितु उस प्राच्य परम्परा को अपने समग्र जीवन में अक्षरश: उतारकर एक अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया। वे यावज्जीवन माँ जिनवाणी की सेवा त्रिविध-योग से करते रहे। उन्हीं श्रद्धेय पण्डित जी की लेखनी से प्रसूत प्रस्तुत 'जैन न्याय, भाग २' को संस्थान से बत्तीसवें पुष्प के रूप में प्रकाशित करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। पण्डित जी ने अपने जीवन के बहुमूल्य अन्तिम क्षणों में लिखित प्रस्तुत कृति में जैन न्यायशास्त्र के अन्तर्गत प्रमेय परीक्षा सम्बन्धी विचारो का समीक्षात्मक चिन्तन प्रस्तुत कर हिन्दी माध्यम से अध्ययन करने वाले न्यायशास्त्र के जिज्ञासुओं का महदुपकार किया है। अत ग्रन्थ प्रकाशन की इस मङ्गलवेला पर हम (स्व०) पूज्य पण्डित जी के प्रति अपने विनम्र श्रद्धा सुमन अर्पित करते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में संस्थान के प्रबन्धक डॉ० अशोककुमार जैन ने अपनी पूज्या माता श्रीमती पुतलीबाई जैन (धर्मपत्नी सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री) एवं अपनी बडी मौसी स्व० श्रीमती रूपाबाई (धर्मपत्नी स्व० सि० मोहनलाल जी बरया) तथा अपनी मझली काकी स्व० श्रीमती पाँचोबाई (धर्मपत्नी स्व० श्री धर्मदास जी बरया) की ओर से ७०००)०० (सात हजार रुपये) दान स्वरूप भेंट कर अपनी उदारता का परिचय दिया है। इसके अतिरिक्त दिसम्बर ८८ के अन्तिम सप्ताह में जब मैं ईडकी गया तो पूज्या अम्मां जी श्रीमती पुतलीबाई जैन ने स्वय के द्वारा सञ्चित की गई राशि में से अलग से एक सौ एक रुपये इस ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ देकर हमारा उत्साहवर्द्धन किया है। अत हम डॉ० अशोक जी उनकी पूज्या अम्मां जी, उनकी बडी मौसी जी एव उनकी मझली काकी जी के प्रति संस्थान परिवार की ओर से हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

इस वर्ष पर्यूषण पर्व में दि० जैन समाज, एटा (उ० प्र०) के आग्रहपूर्ण निमन्त्रण पर मैं प्रवचनार्थ वहाँ गया था। वहाँ पर परम पूज्य १०८ आचार्यश्री कल्याणसागर जी महाराज का ससंघ चातुर्मास हो रहा था। पूज्य आचार्यश्री अपने संघ सहित प्रतिदिन दोपहर में तत्त्वार्थसूत्र वाचन के अवसर पर पद्मावती पुरवाल दि० जैन पद्मावती मन्दिर में उपस्थित होते थे और अत्यन्त

मनोयोगपूर्वक सूत्रार्थ श्रवण करते थे तथा उपदेश भी देते थे। उक्त अवसर पर पूज्य आचार्यश्री की प्रेरणा एव आशीर्वाद से दि० जैन समाज एटा ने भी इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ एक हजार बयालीस रुपये प्रदान किए है। एतदर्थ हम पूज्य आचार्यश्री को विनम्र प्रणाम करते हुये दि० जैन समाज एटा के प्रति अपना आभार प्रकट करते हैं।

सस्थान के संस्थापक श्रद्धेय प० फूलचन्द्र जी सिद्धान्ताचार्य इस वृद्धावस्था में भी सस्थान के कार्यों में रुचि लेते हैं एव उसकी प्रगति के लिए निरन्तर चिंतित रहते हुए समय-समय पर अपने बहुमूल्य सुझाव देते रहते है। अत हम सस्थान की ओर से उनके प्रति भी आभार प्रकट करते हैं।

श्रद्धेय गुरुवर्य प० जगन्मोहनलाल जी सिद्धान्तशास्त्री (कटनी) ने मेरे विनम्र अनुरोध को स्वीकार करते हुए इस ग्रन्थ की विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिखी है, जो मन्दिर के ऊपर चढ़ाये गये स्वर्ण-कलश का कार्य करती है। अल्प समय मे ऐसी उपयोगी एव महत्त्वपूर्ण भूमिका लिखने के लिए हम पूज्य पण्डित जी के प्रति आभार प्रकट करते हुए उन्हें विनम्र प्रणाम करते है।

समाज के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् एव ग्रन्थमाला सम्पादक प्रो० डॉ० राजाराम जैन (आरा) एव प्रो० उदयचन्द्र जैन (वाराणसी) का प्रकाशन सम्बन्धी कार्यों में हमें निरन्तर सहयोग प्राप्त है। अत उक्त ग्रन्थमाला सम्पादकों के हम हृदय से आभारी हैं।

हमे अपने मित्र एव सस्थान के उपमन्त्री डॉ० सुरेशचन्द्र जैन का सस्थान के विविध कार्यों में सक्रिय सहयोग मिलता रहता है। तारा प्रिन्टिंग प्रेस के सञ्चालक आदरणीय श्री रमाशङ्कर पण्ड्या ने अल्प समय में कलात्मक मुद्रण कार्य किया है। अत. हम उक्त दोनो महानुभावो को हृदय से धन्यवाद देते हैं।

निर्वाण भवन
बी २/२४९-५, लेन न० १४
रवीन्द्रपुरी, वाराणसी
१८ अप्रैल, १९८९

डॉ० कमलेशकुमार जैन
संयुक्त मन्त्री
श्री गणेश वर्णी दि० जैन सस्थान
नरिया, वाराणसी

प्राक्कथन

भारतवर्ष विविध दर्शनों की भूमि है। यहाँ सनातन काल से धर्म के विविध सिद्धान्तों का पर्यालोचन होता आ रहा है। भगवान् ऋषभदेव का समय भोग-भूमि का अन्त और कर्मभूमि का प्रारम्भ काल था। भोगभूमि में कोई तात्त्विक विचारधारा का उदय न था। भगवान् आदिनाथ के दीक्षा लेने के बाद उनके साथ उनके अनुकरण रूप अनेक क्षत्रियों ने उन जैसा वेष तो धारण कर लिया, परन्तु वह मात्र उनका अनुकरण था। भगवान् मौन थे, अत उनके अन्य चरण का अनुसरण न हो सका।

जैनदर्शन में यह प्रतिपादित है कि जब तक केवलज्ञान नही होता, अर्थात् छद्मस्थ अवस्था छूटकर पूर्णज्ञान का उदय नही होता, तब तक दीक्षा के बाद तीर्थंकर एक अपेक्षा से मौन रहते हैं, तात्त्विक उपदेश नही देते। इसलिए उनका उपदेश तब होता है, जब उनको पूर्णज्ञान प्राप्त हो जाता है। ससारी प्राणि मोही है, रागी-द्वेषी है। जब तक राग-द्वेष एव मोह की स्थिति रहती है, ज्ञान अपूर्ण रहता है। अपूर्ण ज्ञानी की बात रत्नत्रय रूप परिणति नही होने तक अपूर्ण रहती है।

सूक्ष्म पदार्थ जो इन्द्रियगोचर या सन्निकर्ष प्रक्रिया द्वारा नही जाने जा सकते, उनका ज्ञान पूर्णज्ञानी ही होता है। इसी प्रकार अतिदूर क्षेत्रवर्ती पदार्थ, जहाँ मनुष्य का आवागमन भी नही है, वे दूरान्तरित तथा अतिकाल पूर्व के पदार्थ, जो कालान्तरित होते है, ऐसे सूक्ष्म, दूरान्तरित एव कालान्तरित पदार्थों का ज्ञान सम्पूर्ण ज्ञानी को निश्चित होता है।

वे तीर्थंकर प्रभु जगत् को उद्धार करने वाले प्रामाणिक वचनो का उपदेश देते है। यही कारण है कि जैनदर्शन मे उनके वचन ही प्रमाण माने गये हैं। जो मोह, राग-द्वेष रहित पूर्णज्ञानी हो, जो प्राणिमात्र के हित की बात कहते हो, उनका वचन ही पूर्ण प्रमाण माना गया है। लोक मे भी उसी व्यक्ति को पूर्ण प्रामाणिक माना जाता है, जो किसी के प्रति राग-द्वेष, मोह न रखता हो। दोनों पक्षो का हितचिन्तक हो तथा विवादित विषय को स्वय पूर्ण समझकर यथार्थ को जान चुका हो, उसी के वचन को प्रमाण माना जाता है। अत. सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, रागादि दोषरहित, सत्त्व-हितकारक तीर्थंकरो के वचन ही प्रमाण-कोटि में गिने गये हैं। समस्त जैनदर्शन सर्वज्ञ तीर्थंकर की वाणी है, जो क्रमशः

वीतरागी, निर्मोही, स्व पर हितैषी आचार्यों की परम्परा से मूल तीर्थंकर की वाणी को ही अनुसरण करने वाली है, वही जैनदर्शन है।

भगवान् ऋषभदेव के दीक्षाकाल के बाद केवलज्ञान उत्पन्न होने के पूर्व जिन लोगो ने भगवान् का बाह्य अनुसरण तो कर लिया था, पर न वह दृढता थी और न वह भाव अन्तरङ्ग में था। उन्होने कष्टादि सहन न कर सकने के कारण जुदे-जुदे प्रकार के अपने-अपने भेष बनाये और अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार आचार-पद्धति बनाई। यही विविध दर्शनों को जन्म देने की स्थिति का कारण बना।

भगवान् ऋषभदेव के पौत्र एव भरत के पुत्र मारीचिकुमार ने बडे खानदान का होने से अपने प्रताप से अनेक व्यक्तियो को अपने कल्पित धर्म में दीक्षित किया। जैन कथा-ग्रन्थों के अनुसार अन्य दर्शनों की उत्पत्ति का यह इतिहास है।

जैन तीर्थंकरो ने वस्तु को अनेक धर्मात्मक माना है। है भी प्रत्येक वस्तु मे अनेक धर्म, अनेक गुण और अनेक परिणतियाँ। यद्यपि एक वस्तु की एक समय मे समुच्चय रूप से एक ही परिणति (पर्याय) होती है और दूसरे समय वह बदल जाती है, पर वह सब उसी वस्तु के परिवर्तन हैं, उसी की अनेक गुण-रूप अवस्थाएँ हैं। इसलिये पदार्थ अपनी एकता रखते हुए भी गुणों और पर्यायो की गणना से अनेक रूप हैं तथा अनेक परिस्थितियो के कारण भी परिवर्तनशील हैं। अत स्वभाव से त्रिकाल स्थित रहने वाला अर्थात् ध्रुव तथा अनेक गुणो के कारण अनेकपन मे तथा समय-समय के परिवतनो के कारण अनित्य है। इस तरह ध्रुवता, नवीन उत्पाद तथा पुराने परिणमन का विलय—इस प्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप ही जगत् के सभी पदार्थ हैं। यह जैनदर्शन का अकाट्य सिद्धान्त है।

सम्पूर्ण ज्ञान को प्रमाणज्ञान और ज्ञानी के श्रुत-विकल्प को नय कहते हैं। इस तरह प्रमाण-नय स्वरूप ज्ञान द्वारा वस्तु का निर्णय होता है, पर प्रतिपादन की दृष्टि से एक समय मे एक ही धर्म कहा जा सकता है, शेष धर्मों का निषेध नही है, उन्हे गौण रूप में स्वीकारना ही प्रामाणिकता है, स्याद्वाद है। अन्यथा मिथ्यादर्शन हो जायेगा। अनेकान्त रूप वस्तु के किसी एक धर्म को लेकर प्रतिपादन करना या समझना कि यही वस्तु का स्वरूप है, यह वस्तु-स्वरूप होकर के भी मिथ्यादर्शन है।

जैनदर्शन वस्तु के स्वरूप का प्रदर्शन कराने वाला दर्शन है, वह भगवान् सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित सिद्धान्तो का आगम और हेतुवाद या युक्तिवाद द्वारा प्रतिपादन करता है।

दर्शन और न्याय में थोडा अन्तर है। दर्शन में अपने सिद्धान्त का सयुक्तिक प्रामाणिक वर्णन होता है और न्याय में अपने पक्ष के सयुक्तिक प्रतिपादन के साथ-साथ अन्य वादियों द्वारा लगाये गये दूषणों का निराकरण तथा अन्य दर्शन-प्रतिपादित वस्तु-तत्त्व का सयुक्तिक परीक्षण भी किया जाता है।

स्व० सिद्धान्ताचार्य प० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने जैन न्याय का अनुसरण कर 'जैन न्याय' का प्रथम भाग लिखा था, जो भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा सन् १९६६ में प्रकाशित हुआ था। यह द्वितीय भाग स्व० पण्डित जी से उनकी जीवित अवस्था में उनसे प्राप्त हुई पाण्डुलिपि के आधार पर डॉ० कमलेशकुमार जैन (जैनदर्शन-प्राध्यापक, जैन-बौद्धदर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी) के सम्पादकत्व में श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन सस्थान, नरिया, वाराणसी से प्रकाशित हो रहा है। ज्ञात हुआ है कि कुछ कृतियाँ प० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री की और भी है, जो अप्रकाशित हैं। वे जैसे-जैसे उपलब्ध हो सकेंगी, उनका भी प्रकाशन किया जायेगा।

इस ग्रन्थ के लेखक स्व० प० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री आज की समाज व विद्वद्वर्ग के लिए सुपरिचित हैं। समाज मे समय-समय पर पहुँचकर उन्होने जैन-धम-दर्शन का प्रचार किया है और विद्वद्वर्ग की आज जो सख्या है, उसमें अनेक विद्वान् उनके शिष्य हैं।

सिद्धान्त के महान् ग्रन्थो का अनुवाद, सम्पादन, टीका और विवरण आदि अनेक कृतियाँ उनकी यशोगाथा का मूक ज्ञान करा रही हैं। वे मेरे सहाध्यायी थे। परम मित्र थे। जीवन भर उनसे मित्रता चली। वे मुझे उम्र के हिसाब से तथा अपनी सहज सज्जनता के कारण बडा मानते थे। कभी कोई कार्य या निर्णय मुझे उनका उचित नही जँचा तो मैंने उन्हें रोका। उन्होने उसे तत्काल अङ्गीकार किया। यह उनकी महानता थी।

सन् १९२३ मे हम दोनो पढ़कर निकले। मुझे स्याद्वाद विद्यालय के मन्त्री ने विद्यालय में काय करने का अवसर दिया, पर मैं अपने पालक स॰ सि० कन्हैयालाल रतनचन्द जी की आज्ञानुसार कटनी विद्यालय में कार्य करने को बाध्य था। अत मैंने मन्त्री जी को प० कैलाशचन्द्र जी का परिचय दिया। उन्होंने प० कैलाशचन्द्र जी को विद्यालय में धर्माध्यापक नियुक्त किया। कालान्तर मे वे विद्यालय के प्रधानाध्यापक और बाद में अधिष्ठाता बने।

कटनी विद्यालय में भी प्रवेशिका से शास्त्री कक्षा तक की पढ़ाई प्रारम्भ हो चुकी थी। प० कैलाशचन्द्र जी एक बार कटनी आये। विद्यालय देखा।

अपना विचार प्रकट किया कि शास्त्री कक्षा काशी में चलती है, तब दो-दो जगह छात्रों के लिए अलग-अलग खर्च समाज का नही करना चाहिए। आप इन्हें काशी भेज दो। हमारा उनका इस प्रकार का समझौता हुआ कि आप काशी में मध्यमा और शास्त्री कक्षायें ही चलायें, प्रथमा नही। और हम कटनी में प्रथमा और मध्यमा चलायेंगे, शास्त्री कक्षा नही। आपके पास भेज देवेंगे। यह समझौता ५० वर्षों तक चला। अब तो दोनों विद्यालयो में पढ़ने वाले छात्र नही हैं। सन् १९५४ से १९६९ तक पण्डित जी मेरे सहायक सम्पादक के रूप में 'जैन सन्देश' के सम्पादक रहे। बाद में मैंने जब छोड दिया तो वे ही जैन सन्देश के प्रधान सम्पादक रहे।

मेरे समय में भी प्राय सम्पादन वे ही करते थे। वस्तुत नाम तो मेरा था, पर प्रधान सम्पादक का कार्य वे ही करते थे। मैं मात्र सहायक था, पर वे मुझे सम्मान देते थे। मैं यदि छोडने की बात कहता था तो वे कहते थे कि आप छोड दोगे तो मैं भी छोड दूंगा। मैं इस भय से ही प्रधान सम्पादक बना रहा। पर उन दिनो मे भी सम्पादन का मुख्य श्रेय उनको ही है।

न्यायशास्त्र वस्तु-परीक्षण के लिए है। उसके दो भाग हैं—प्रमाण और प्रमेय। प्रमाण परीक्षा की न्याय-तुला है, प्रमेय उसमें तोले जाते हैं, परीक्षण किये जाते है। प्रथम भाग मे पण्डित जी ने जैनागम-सम्मत प्रमाणो की ही परीक्षा की है। यदि प्रमाण ठीक न हो तो प्रमेय का सत् परीक्षण नही हो सकता। अत यह आवश्यक होता है कि प्रथम प्रमाण का लक्षण, उसके भेद, भेदों का स्वरूप प्रतिपादन कर अन्य न्यायवादियो द्वारा प्ररूपित प्रमाण, उनका स्वरूप और उनके भेदो के स्वरूप का परीक्षण किया जाए। 'जैन न्याय, प्रथम भाग' में प० कैलाशचन्द्र जी ने जैन न्याय के पचासो ग्रन्थो के आधार पर स्वपक्ष प्रतिपादन और परपक्ष का परीक्षण बहुत सुन्दरता तथा सरलता से विद्वत्तापूर्ण शैली मे किया है।

इस द्वितीय भाग मे प्रमेय का परीक्षण है। जहाँ प्रमाण के स्वरूप व भेदो में अन्य दर्शनो के साथ जैनदर्शन की भिन्नता है, उसी प्रकार प्रमेय वस्तु-तत्त्वो के निरूपण मे भी भिन्नता है। इस भाग मे उसी पद्धति पर जैनागम-सम्मत प्रमेय की प्रामाणिकता तथा अन्य दर्शनों द्वारा प्रतिपादित प्रमेयो का साङ्गोपाङ्ग निरीक्षण किया गया है।

भारतीय दर्शनो में सांख्य, न्याय-वैशेषिक, अद्वैतवाद, चार्वाक और बौद्ध विशेषत. प्रसिद्ध हैं। आर्हद्दर्शन भी उनमें एक है। इसे ही जैनदर्शन नाम से कहा जाता है।

जैनधर्म का पालन करने वाले दो भागों में विभक्त हो चुके हैं—दिगम्बर और श्वेताम्बर। ये दोनों भेद आचार-भेद से बने थे। बाद में अपने-अपने आचार की पुष्टि में कुछ सिद्धान्तों में भी भेद हुआ। पर जैनदर्शन और न्याय के सिद्धान्तों में थोड़ा ही अन्तर है और प्रायः समानता है। इस जैन न्याय के विषय प्रतिपादन में पण्डित जी ने दोनों पक्षों के न्याय ग्रन्थों का उपयोग किया है।

इस द्वितीय भाग में सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, चार्वाक, बौद्ध और सभी अद्वैतवादियों द्वारा प्रतिपादित प्रमेय व्यवस्था का सरल/सुबोध भाषा में परीक्षण किया है। प्रारम्भ में ही पदार्थों को केवल सद्भाव रूप मानने वाले भावैकान्त-वादियों का तथा केवल अभाव स्वरूप पदार्थ मानने वाले अभावैकान्तवादियों का तथा भावाभावैकान्त उभयरूप पदार्थ-व्यवस्था मानने वाले एकान्तवादियो का विचार किया है। कुछ तत्त्व के अगोचर प्रतिपादन करने वाले अवाच्यतै-कान्तवादी हैं, उनका भी विचार किया है।

सभी एकान्तवादी अपर एकान्तवादी का खण्डन तो करते हैं, पर जब तक परपक्ष का अस्तित्व न मानें तो खण्डन किसका है, यह प्रश्न खड़ा रह जाता है। अत दोनो पक्ष कथञ्चित् अपनी-अपनी विवक्षा में एकान्त से सार्थ हैं। इस अनेकान्तवाद सिद्धान्त में किसी भी पदार्थ की अपेक्षा स्वद्रव्य, स्वप्रदेश, स्वपर्याय और स्वभाव का अस्तित्व है। परपदार्थ की अपेक्षा से परद्रव्य, उसके प्रदेशो का, उसकी पर्यायो का, उसके गुणो का अस्तित्व उसमें नहीं है। इस तरह अस्तित्व-नास्तित्व का एक पदार्थ में अविनाभाव सम्बन्धवश इस ग्रन्थ मे सतर्क वर्णन किया है। अद्वैतवाद के अनेक भेद हैं—ब्रह्माद्वैत, शब्दाद्वैत, शून्याद्वैत आदि। इन वादो का भी इसमें पर्याप्त विचार किया गया है।

वैशेषिक मत द्वारा मान्य द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय—इन छः पदार्थों के सम्बन्ध में पूरा अध्याय ही लिखा गया है। प्रश्नोत्तर के माध्यम से सुन्दर प्रदर्शन किया गया है। अन्त में सांख्य द्वारा प्रतिपादित पच्चीस तत्त्वों पर भी ऊहापोह किया गया है तथा बौद्ध मतानुयायियो के प्रमेय तत्त्व पर भी प्रश्नोत्तर के रूप में पर्यालोचन है।

अनेक जैन न्याय-ग्रन्थो का आलम्बन लेकर विषय का प्रतिपादन करके भी मुख्यतः आचार्य समन्तभद्र की आप्तमीमांसा तथा उस पर आचार्य विद्यानन्द की अष्टसहस्री और अकलंक के लघीयस्त्रय पर लिखित प्रभाचन्द्र के न्यायकुमुद-चन्द्र का बहुत उपयोग किया गया है।

यद्यपि जैन न्याय के ग्रन्थो में उक्त सभी विषय प्रतिपादित हैं तथापि वे सब संस्कृत भाषा में हैं। भाषा की दुरूहता, विषयों की गूढ़ता और अध्ययन की वर्तमान में पल्लवग्राही पाण्डित्य की शैली के कारण जैन न्याय का पठन-पाठन प्राय. जैन छात्रों में भी बन्द हो गया है। यह पुस्तक उनकी कठिनाइयो को दूर करने के लिये हिन्दी भाषा में सरल/सुबोध पद्धति से लिखी गई है। भाषा प्रभावशाली और प्राञ्जल है। आशा है जैन-जैनेतर भाई भी जो जैन न्याय और सिद्धान्त को समझना चाहते हैं, वे अवश्य इसके द्वारा लाभान्वित होंगे।

ग्रन्थ के अन्त में अनेक परिशिष्ट भी जोडे गये हैं, जो एक बहुत बडे अभाव की पूर्ति करते हैं।

इस ग्रन्थ के दोनो भागों के अध्ययन से जैनदर्शन का हार्द तो आना ही जाता है, साथ ही अन्य दर्शनो का भी परिचय हो जाता है। जैन न्यायशास्त्रो में यद्यपि पूर्व-पक्ष के रूप में अन्य दर्शनो का भी प्रतिपादन है, तथापि पाठक को अन्य दर्शन की सभी बातो का परिचय नही हो पाता।

न्याय का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियो के लिए तो ये दोनों भाग उपयोगी हैं ही, साथ ही उन सभी जिज्ञासु विद्वानों के भी ज्ञानवर्द्धन में सहायक सिद्ध होंगे, जो दर्शनशास्त्र के रहस्य को जानने की इच्छा रखते हैं।

इस ग्रन्थ का सम्पादन डॉ० कमलेशकुमार जैन ने किया है। सर्वप्रथम उन्होंने मुझे ग्रन्थ का पता गत ८८ में ही दिया था कि स्व० प० कैलाशचन्द्र जी के जैन न्याय की पुस्तक का द्वितीय भाग 'प्रमेय परीक्षा' की पाण्डुलिपि मेरे पास है। मैंने उन्हे सुझाव दिया कि उसका सम्पादन कर प्रकाश में लाओ। प्रमाण-परीक्षा, बिना प्रमेय-परीक्षा के अधूरी है। जब प्रमाण-परीक्षा प्रकाशित है, तो प्रमेय-परीक्षा भी प्रकाशित होनी चाहिए। डॉ० कमलेश ने प्रकाशन के सम्बन्ध में जिज्ञासा की कि कौन छपायेगा ? मैंने भारतीय ज्ञानपीठ (दिल्ली) के निदेशक बाबू लक्ष्मीचन्द जी को सुझाव दिया और उन्होने इसका प्रकाशन ज्ञानपीठ की ओर से कर देने की स्वीकारता भी दी, तब तक श्री गणेश वर्णी दि० जैन सस्थान, नरिया, वाराणसी ने भी इसका प्रकाशन स्वीकार कर लिया। अत' अब सस्थान से इसका प्रकाशन हो रहा है, यह प्रसन्नता की बात है।

सम्पादन से प्रकाशन सुन्दर बन जाता है। डॉ० कमलेशकुमार जी ने इसका सम्पादन सुन्दर ढग से किया है। अप्रैल सन् १९८८ से ही वे इस कार्य में जुटे हैं। ग्रन्थ में उल्लिखित प्रमाणों को तत्-तत् ग्रन्थों से मिलान कर उनका सशोधन करना, फिर उसकी प्रतिलिपि करना, विषय को सुसम्बद्ध रूप से प्रकाशन योग्य

बनाना, पुस्तकालयों से ग्रन्थ उपलब्ध कर उनका उपयोग करना आदि समस्त श्रम के कार्य उन्होंने किये हैं।

इस कार्य को सम्पन्न कर उन्होंने इस प्रकाशन को जिस साँचे में ढाला है, वह पाठकों के सामने है।

डॉ० कमलेश जी पं० जी के पास अध्ययन करते थे। अत. कृतज्ञता के नाते उन्होंने इसे परिश्रम पूर्वक तैयार किया है। मेरे पास भी उन्होंने कटनी में प्रारम्भिक शिक्षा ग्रहण की है। इस कृतज्ञता से मुझे भी उन्होंने स्मरण किया और मैंने इस ग्रन्थ का प्राक्कथन लिखा। स्व० प० कैलाशचन्द्र जी का स्नेह तो उसका मूल कारण है ही।

डॉ कमलेश को मेरा शुभाशीर्वाद है कि वे आगे भी साहित्य और धर्म की सेवा में बढ़ें और सफल हों।

कटनी (म० प्र०)
८-१२-८८

विदुषामनुचर
जगन्मोहनलाल शास्त्री
श्री महावीर दि० जैन उदासीन आश्रम
कुण्डलगिरि, पो०—कुण्डलपुर
जिला—दमोह-४७०७७३

प्रस्तावना

ईसा की बीसवी शती के प्रारम्भ में जब विभिन्न भारतीय विद्याओं का पठन-पाठन द्रुतगति से प्रचलित हुआ तब अपने धर्म एव सिद्धान्तों को अन्य विद्वानों के समक्ष सतर्क उपस्थित करने की बलवती इच्छा ने जैन विद्वानों को जैन न्याय का अध्ययन, मनन और चिन्तन करने की दिशा में अग्रसर किया। उस समय सस्कृत के मूल ग्रन्थ ही उनके सामने थे, अत उन्ही में विशेष परिश्रम किया गया। पुन' शनै शनै भौतिकवाद की ओर युवा पीढ़ी के बढ़ते कदम और संस्कृत मूल ग्रन्थो की दुरूहता ने राष्ट्रभाषा हिन्दी की ओर विद्वानो का ध्यान आकृष्ट किया। किन्तु उस समय हिन्दी भाषा में जैन न्याय विषयक ऐसा कोई साहित्य नही था, जिससे हिन्दी माध्यम से अध्ययन करने वाले विद्वानों की उक्त समस्या का ठोस समाधान मिल सके।

प्राच्य विद्वत्परम्परा के प्रबुद्ध मनीषी श्रद्धेय स्व० पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री इस समस्या से पूर्णत परिचित थे। अत उन्होंने अपने दायित्व का निर्वाह करते हुए हिन्दी में 'जैन न्याय' नामक ग्रन्थ की रचना की, जो भारतीय ज्ञानपीठ काशी से मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला के अन्तर्गत सन् १९६६ में प्रकाशित हुआ है।

'जैन न्याय' नामक इस ग्रन्थ मे पूज्य पण्डित जी ने सस्कृत के जैन एवं जैनेतर न्याय विषयक मूल ग्रन्थो का दोहन कर जैन प्रमाणशास्त्र से सम्बद्ध सभी विषयों का प्रामाणिक एव साङ्गोपाङ्ग विवेचन प्रस्तुत किया है, जो भारतीय न्याय मनीषा के प्रबुद्ध अधिकारी विद्वानो द्वारा बहुप्रशसित है। सर्वप्रथम उन्होने अपने इस 'जैन न्याय' में न्यायशास्त्र की सामान्य परम्परा का उल्लेख करते हुए जैन न्याय के उद्गम एव विकास की कथा का दिग्दर्शन कराया है। पुन. ईसा की प्रथम शताब्दी के विद्वान् आचार्य कुन्दकुन्द और उनके परवर्ती समन्तभद्र, सिद्धसेन, भट्टाकलङ्क, विद्यानन्द, माणिक्यनन्दी, प्रभाचन्द्र, हेमचन्द्र तथा जैन नव्य-न्याय शैली के प्रतिष्ठापक आचार्य यशोविजय पर्यन्त जैन न्यायविद्या के धुरीण आचार्यों का कालानुक्रम से परिचय दिया है, जिनके चिन्तन और विवेचन के फलस्वरूप प्रमाणशास्त्र ज्ञानमीमासा से लेकर नव्य-न्याय की कोटि तक पहुँचा है। तत्पश्चात् न्यायशास्त्र विषयक ग्रन्थो का मुख्य प्रतिपाद्य प्रमाण का स्वरूप, प्रमाण के भेद, श्रुत के दो उपयोग—स्याद्वाद और नयवाद, प्रमाण का फल तथा

प्रमाणाभास का विस्तार से विवेचन किया है। प्रस्तुतीकरण की इस प्रक्रिया में श्रद्धेय पण्डित जी ने प्रारम्भ में पूर्वपक्ष का उल्लेख करते हुए अन्त में जैन न्याय सम्मत उत्तरपक्ष प्रस्तुत किया है। बीच-बीच में पूर्वपक्ष द्वारा उठाई गई शङ्काओं-प्रतिशङ्काओं का भी समाधान किया है। इस प्रकार यह ग्रन्थ जैन न्याय के प्रथम अङ्ग प्रमाणशास्त्र का समग्र अनुशीलन प्रस्तुत करता है।

जैन-न्यायविद्या का द्वितीय महत्त्वपूर्ण अङ्ग है प्रमेय परीक्षा। क्योंकि प्रमेय की परीक्षा के बिना प्रमाणशास्त्र अधूरा है। अत श्रद्धेय पण्डित जी ने प्रारम्भ में यद्यपि 'जैन न्याय' के नाम से जैन प्रमाणशास्त्र का स्वतन्त्र रूप से विवेचन किया था, किन्तु उन्हें उक्त ग्रन्थ मे जैन प्रमेय विषयक सामग्री का अभाव खटकता रहा। फलस्वरूप पण्डित जी ने अपने जीवन की अन्तिम बेला मे इस अभाव की पूर्ति हेतु प्रमेय प्रकाश' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की। इस प्रकार पूर्व प्रकाशित 'जैन न्याय' मे विषय की दृष्टि से प्रमाणशास्त्र और 'प्रमेय प्रकाश' में प्रमेय का विवेचन है। यत प्रस्तुत ग्रन्थ 'जैन न्याय' का उत्तरार्द्ध है। अत 'जैन न्याय, भाग २' के नाम से प्रकाशित किया जा रहा है। ग्रन्थ की मूल पाण्डुलिपि में एक जगह मुखपृष्ठ पर पण्डित जी ने स्वय अपनी कलम से 'प्रमेय प्रकाश' को काटकर 'जैन न्याय, भाग २' लिखा है। अत ग्रन्थ का उक्त नामकरण पूज्य पण्डित जी की भावना के सर्वथा अनुकूल है, जिसका हम सम्मान करते हैं।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी मे जैनदर्शन प्राध्यापक पद पर मेरी नियुक्ति होने के पश्चात् मुझे श्रद्धेय प० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री से आचार्य विद्यानन्दकृत अष्टसहस्री और आचार्य प्रभाचन्द्रकृत न्यायकुमुदचन्द्र पढ़ने का अवसर मिला। पण्डित जी द्वारा सम्भवतः यह अन्तिम अध्यापन-कार्य था। उसी समय उन्होंने भट्टाकलङ्ककृत लघीयस्त्रय का हिन्दी अनुवाद और प्रस्तुत कृति 'जैन न्याय, भाग २'—दोनों की पाण्डुलिपियाँ मुझे सौप दी थी। तत्पश्चात् उनकी स्मृति निरन्तर क्षीण होती गई और १७ नवम्बर १९८७ का राँची मे ८४ वर्ष की आयु में उनका स्वर्गवास हो गया। वे जैनविद्याओं के आद्यन्त उपासक रहे हैं, उनके निधन से प्राचीन जैन पण्डित परम्परा की अपूरणीय क्षति हुई है।

श्रद्धेय पण्डित जी के दिवगत होने के पश्चात् उनके द्वारा सौंपी गई इस साहित्यिक निधि के सम्पादन का कार्य मैने स्व० पण्डित जी के सहाध्यायी एवं अनन्य मित्र तथा अपने आद्य गुरुवर्य परम श्रद्धेय प० जगन्मोहनलाल जी सिद्धान्तशास्त्री (कटनी) की आज्ञानुसार स्वीकार किया। सम्पादन के समय सर्वप्रथम

सकल ग्रन्थ का आद्योपान्त वाचन किया। इस अवधि में मैंने अनुभव किया कि इसमें अभी काफी परिश्रम अपेक्षित है। क्योंकि कहीं विषय छूटा था तो कहीं सन्दर्भ। अतः हमने मूल-ग्रन्थों से मिलान कर आवश्यक सामग्री का यत्र-तत्र समावेश किया। दुर्लभ मूल ग्रन्थों को पुस्तकालय से प्राप्तकर सन्दर्भों का सावधानी पूर्वक निरीक्षण किया और संशोधन सहित सुवाच्य प्रतिलिपि तैयार कर ली।

ग्रन्थ का प्रतिपाद्य

प्रस्तुत ग्रन्थ में पूर्वपक्ष के रूप में सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, बौद्ध, चार्वाक, ब्रह्माद्वैतवाद, शब्दाद्वैतवाद आदि विभिन्न भारतीय दर्शनों का पर्याप्त ऊहापोह करके जैन दृष्टि से खण्डन-मण्डन किया है। इसका अधिकांश विषय आचार्य समन्तभद्रकृत आप्तमीमांसा और उस पर आचार्य विद्यानन्दकृत अष्टसहस्री तथा आचार्य अकलंककृत लघीयस्त्रय और उस पर आचार्य प्रभाचन्द्रकृत न्याय-कुमुदचन्द्र से गृहीत है।

भावैकान्त :

सर्वप्रथम वस्तु के अनेकान्तात्मक स्वरूप का प्रतिपादन करते हुये सांख्यों द्वारा भावैकान्त रूप से स्वीकृत प्रकृति आदि पच्चीस तत्त्वों का पूर्वपक्ष के रूप में निरूपण है। इसका खण्डन करते हुये जैन तार्किकों का कहना है कि यदि सभी पदार्थों को भावैकान्त रूप स्वीकार करते है तो चार प्रकार के अभावों का लोप हो जायेगा। प्रागभाव न मानने पर कार्य रूप द्रव्य अनादि हो जायेगा। प्रध्वंसाभाव न मानने पर घटादि कार्य अनन्त (नित्य) हो जायेंगे। अन्यापोह (इतरेतराभाव) स्वीकार न करने पर वस्तुओ का स्वतंत्र स्वरूप न होकर सभी पदार्थ सब रूप (सर्वात्मक) हो जायेंगे। इसी प्रकार अत्यन्ताभाव के स्वीकार न करने पर अर्थात् एक तत्त्व में अन्य तत्त्व का अत्यन्ताभाव न मानने पर इष्ट और अनिष्ट तत्त्वो का कथन नही बन सकेगा।

अभावैकान्त :

पदार्थों की सत्ता को न मानने वाले माध्यमिकों के सर्वनैरात्म्य की प्रतिज्ञा को अभावैकान्त कहते हैं। इसकी समीक्षा करते हुए जैन-तार्किकों का कहना है कि स्वप्नादि के मिथ्याज्ञान की तरह दृश्यमान जगत् का ज्ञान भी मिथ्या है, तो मिथ्याज्ञान स्वयं मिथ्या न होने पर 'सर्वज्ञान मिथ्या है' यह बात सिद्ध नहीं

होती है और यदि मिथ्याज्ञान भी मिथ्या है, तो मिथ्याज्ञान के मिथ्या होने से जगत् का अस्तित्व सिद्ध ही होता है। अतः अभावैकान्त पक्ष ठीक नहीं है।

भावाभावैकान्त :

भाट्ट द्वारा स्वीकृत सर्वथा सदसदात्मक अर्थात् भावाभावैकान्त (उभयैकान्त) रूप पदार्थ पर विचार करने पर प्रतीत होता है कि सर्वथा भाव और सर्वथा अभाव एक वस्तु में एक साथ नहीं रह सकते, क्योंकि भाव और अभाव में भेद का प्रसङ्ग आता है।

अवाच्यतैकान्त :

बौद्धों द्वारा स्वीकृत सर्वथा अवक्तव्य अर्थात् अवाच्यतैकान्त भी ठीक नहीं है, क्योंकि वस्तु के सर्वथा अवाच्य रूप हो जाने से दूसरे को यह समझाना सम्भव नही है कि वस्तु-स्वरूप सर्वथा अवाच्य है।

वस्तु में अस्तित्व-नास्तित्व :

अद्वैतवादियो का कथन है कि अस्तित्व ही वस्तु का स्वरूप है, नास्तित्व नही, किन्तु जैन-तार्किको का कहना है कि एक धर्मी जीवादि में अस्तित्व प्रतिषेध्य नास्तित्व के साथ अविनाभावी है, क्योंकि वह विशेषण है। एक अन्य दार्शनिक का कहना है कि जीवादि में अस्तित्व नास्तित्व का अविनाभावी भले ही हो, किन्तु नास्तित्व अस्तित्व का अविनाभावी कैसे हो सकता है? क्योंकि आकाश-पुष्प आदि में नास्तित्व के होते हुए भी अस्तित्व असम्भव है। इसके उत्तर मे जैनाचार्यों का कहना है कि जो-जो विशेषण होता है, वह एक वस्तु में अपने प्रतिपक्षी धर्म का अविनाभावी होता है, जैसे वैधर्म्य साधर्म्य के साथ अविनाभावी है। नास्तित्व भी विशेषण है, अत. वह अस्तित्व के साथ अविनाभावी है।

कुछ लोग अस्तित्व और नास्तित्व को विशेषण मानते हैं, विशेष्य नही, इसलिये वे वास्तविक साध्य धर्म और साधन धर्म के आधार नही हो सकते। कुछ लोगों का कहना है कि अस्तित्व और नास्तित्व सर्वथा शब्दवाच्य नही है, क्योंकि वस्तु रूप अवाच्य है। कुछ लोगों का कथन है कि अस्तित्व और नास्तित्व वस्तु से अत्यन्त भिन्न हैं, जैसे घट और पट। इसी प्रकार कुछ अन्य लोगों का कहना है कि वस्तु अस्तित्व-नास्तित्व रूप नहीं है। इस पर जैन-तार्किकों का कहना है कि जीवादि पदार्थ विधि-निषेधात्मक अस्तित्व रूप हैं, क्योंकि जीवादि पदार्थ शब्दगोचर होने से हेतु की तरह विशेष्य है।

सदसदात्मक वस्तु में अर्थक्रियाकारित्व :

वस्तु को सर्वथा सत् अथवा सर्वथा असत् रूप मानने पर अर्थक्रिया सम्भव नहीं है, अतः सदसदात्मक वस्तु ही अर्थक्रियाकारी है। क्योंकि जैसे स्वर्णत्वरूप द्रव्य की दृष्टि से सत् और केयूररूप पर्याय की दृष्टि से असत् स्वर्ण केयूररूप से परिणमन करने की शक्ति रूप विशिष्ट अन्तरंग सामग्री और स्वर्णकार के व्यापाररूप बाह्य सामग्री के मिलने पर केयूररूप आदि से उत्पन्न होता है। अतः जो सर्वथा अर्थक्रियाकारी है, वह न सर्वथा सत् होता है और न सर्वथा असत्। क्योंकि एकान्तवाद में सर्वथा असत् क्रिया का विरोध है।

अद्वैतैकान्त :

अद्वैतैकान्तवादियों का कहना है कि अनादि अविद्या के कारण स्वप्न की तरह नाना वस्तुओं का प्रतिभास होने से द्वैत की प्रतीति मात्र होती है, किन्तु वास्तव मे विचार करने पर अद्वैत की सिद्धि होती है। इस पर जैन तार्किकों का कहना है कि अद्वैतैकान्त में जो क्रिया-कारक भेद है वह अनित्य है और जो अनित्य है उसकी उत्पत्ति होती है। अत. कारण और कार्य के भेद से द्वैत ही सिद्ध हुआ। दूसरी बात यह है कि अद्वैतैकान्त स्वीकार करने पर लौकिक एवं वैदिक कर्म अथवा पुण्य एवं पाप कर्म नही होंगे और उनके न होने से इस लोक में और परलोक में अच्छे-बुरे फल नहीं होंगे। क्योंकि कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति नही होती है, अतः अद्वैतैकान्त मानना युक्तियुक्त नहीं है।

ब्रह्माद्वैत :

ब्रह्माद्वैतवादियो का कथन है कि ब्रह्म शब्द से ससार के समस्त पदार्थों का बोध हो जाता है, अतः एकमात्र ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नही है। इस प्रसङ्ग में जैन तार्किकों का कहना है कि हेतु से अद्वैत की सिद्ध करने पर हेतु और अद्वैत—इन दो के होने से द्वैत ही सिद्ध होता है। और बिना हेतु के अद्वैत की सिद्धि करने पर वचन मात्र से भी अद्वैत की सिद्धि का प्रसङ्ग आता है। जैसे हेतु के बिना अहेतु नहीं होता, सम्यक् एकान्त के बिना अनेकान्त नहीं होता, वैसे ही द्वैत के बिना अद्वैत नहीं होता, माया के बिना अमाया नहीं होती। अतः ब्रह्माद्वैतवाद ठीक नहीं है।

शब्दाद्वैत :

शब्दब्रह्मवादियों का कहना है कि लोक में ऐसा कोई प्रत्यय नहीं है जो शब्द के अनुगम के बिना हो, ज्ञान शब्द से अनुविद्ध ही प्रतिभासित होता है। जैसे

नेत्र विकार से पीड़ित मनुष्य विशुद्ध आकाश को भी विचित्र रेखाओं से चित्रित देखता है, वैसे ही अविद्या से ग्रस्त मनुष्य अनादि निधन एक स्वभाव और समस्त भेद प्रपञ्चो से रहित शब्दब्रह्म को आविर्भाव, तिरोभाव आदि प्रपञ्चों से युक्त ही मानता है, अत शब्दब्रह्म ही उपादेय है। इसके उत्तर में जैन-तार्किकों का कहना है कि शब्दब्रह्म का सद्भाव इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष से सम्भव नहीं है, क्योकि श्रोत्रजन्य प्रत्यक्ष शब्द के स्वरूप मात्र को प्रत्यक्ष करता है; देश, काल, आकार वगैरह उसके अविषय हैं। अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से भी शब्दब्रह्म की प्रतीति नही होती, क्योंकि शब्दब्रह्म के विषय में अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ही असम्भव है और योगज प्रत्यक्ष स्वीकार करने पर योगी, योग तथा योगज प्रत्यक्ष के होने से अद्वैत का अभाव हो जाता है, अत एकान्तत शब्दब्रह्म ठीक नही है।

द्वैतैकान्त :

वैशेषिको का पक्ष है कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव—ये सात पदार्थ परस्पर मे सर्वथा भिन्न और पृथक्-पृथक् स्वरूप वाले हैं। नौ द्रव्यो मे से पृथ्वी, जल, तेज और वायु—ये चार द्रव्य सत् होते हुए भी इनका कोई कारण नही है, अत परमाणु रूप नित्य हैं और अवयविरूप पृथ्वी आदि की उत्पत्ति होने से अनित्य हैं। शेष आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन—ये पाँच द्रव्य नित्य ही हैं। रूपादि गुण चौबीस हैं। उत्क्षेपण आदि पाँच कर्म हैं। पर और अपर के भेद से सामान्य दो प्रकार का है, जो 'सत् सत्' और 'घट घट' इत्यादि प्रकार के अनुगत ज्ञान का कारण होता है। नित्य द्रव्य में रहने वाले और अत्यन्त भेद बुद्धि मे जो कारण हैं, वे विशेष हैं। अयुतसिद्ध और आधार्य-आधारभूत पदार्थों मे 'इसमें यह है'—इस प्रकार का बोध कराने वाले सम्बन्ध को समवाय कहते हैं। इस प्रसङ्ग में जैन तार्किकों का कहना है कि वैशेषिकों का उक्त कथन अविचारपूर्ण है, क्योंकि परमाणु रूप पृथ्वी आदि के सद्भाव में प्रमाण का अभाव है। हमारा प्रत्यक्ष तो उसके सद्भाव को नहीं जान सकता, क्योंकि वे अतीन्द्रिय हैं। अनुमान भी उनके सद्भाव में प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि उनके सद्भाव के साधक अनुमान का अभाव है। यदि वैशेषिक परमाणु रूप पृथ्वी आदि की सिद्धि के लिये यह कहें कि 'भ्रयणुक आदि कार्य अपने परिमाण में अल्प परिमाण वाले कारण से बना है, क्योंकि वह कार्य है, जैसे घट आदि, तो यह हेतु भी ठीक नहीं है, क्योंकि कार्य के परिमाण से अधिक, न्यून, अथवा समपरिमाण वाला भी कारण होता है। अत किसी प्रमाण से परमाणु का सद्भाव सिद्ध न होने से 'परमाणु रूप पृथ्वी आदि नित्य हैं, सत्

और अकारणवान् होने से' इस अनुमान में हेतु का विशेषण असिद्ध है तथा विशेष्य भी असिद्ध है। क्योंकि स्कन्धों के भेद से परमाणु की उत्पत्ति होती है। वैशेषिकों के मत में कार्य-कारणभाव न बनने से 'द्वयणुक आदि अवयविरूप पृथ्वी आदि उत्पन्न होने से अनित्य हैं' यह कथन भी ठीक नही है।

अवयव-अवयवी :

वैशेषिकों के मत में पृथ्वी आदि अवयवी अपने अवयवों से अत्यन्त भिन्न हैं, क्योंकि इनमें घट-पट की तरह भिन्न प्रतिभास पाया जाता है। अवयव-अवयवी की शक्तियाँ भिन्न-भिन्न हैं। दोनो पिता और पुत्र की तरह पूर्वोत्तरकालभावी हैं। बेर और आँवले की तरह दोनो का परिमाण भी भिन्न-भिन्न है। यदि अवयव और अवयवी में तादात्म्य माना जायेगा तो प्रतिभासभेद वगैरह अत्यन्त दुर्लभ हो जायेंगे। अत. दोनो अत्यन्त भिन्न स्वभाव वाले है। इस प्रसङ्ग में जैनाचार्यों का कहना है कि अवयव और अवयवी में कथञ्चित् भेद है। प्रत्यक्ष से अवयव-अवयवी कथञ्चित तादात्म्य रूप ही प्रतिभासित होते है, अत्यन्त भिन्न नही। नर्तकी दर्शको में हर्ष-विषाद आदि अनेक अर्थक्रिया करते हुए भी एक ही है। अत भिन्न अर्थक्रियाकारी होने स भी दोनों में भेद नही है। अनेक कारणो से उत्पन्न होने पर भी अङ्कुर एक ही है। पट अवस्था को प्राप्त तन्तुओं का पट से काल-भेद नही है। धूपदानी का जो भाग हाथ में रहता हैं वह ठण्डा रहता है और जिसमें आग रहती है वह गर्म होता है, इस प्रकार विरुद्ध धर्माध्यास होने पर भी धूपदानी एक ही है। शक्ति-भेद एव परिणाम-भेद से तन्तु और पट वगैरह में कथञ्चित् अवस्था-भेद ही सिद्ध होता है, जिसे जैन तार्किक भी मानते हैं। अत. अवयव-अवयवी में अत्यन्त भेद असिद्ध है। इस प्रसङ्ग में बौद्ध तार्किको का कहना है कि रूपादि से भिन्न अवयवी की प्रतीति स्वप्न में भी प्रत्यक्ष से नही होती है, अत. ग्राहक प्रमाण का अभाव होने से अवयवी का अभाव है। द्वयणुक आदि अवयवी की उत्पत्ति में परमाणु संयोग को कारण माना जाता है। वह परमाणु सयोग न एकदेश से बनता है और न सर्वात्मना। परमाणुओं का सयोग सर्वात्मना मानने पर पिण्ड को अणुमात्रता का प्रसङ्ग आता है और परमाणुओं में देश सम्भव न होने से परमाणुओ का एक देश से संयोग नहीं बनता, अतः अवयवी की सिद्धि नहीं होती। इसी प्रकार रूप को ग्रहण करने वाला चाक्षुष प्रत्यक्ष रस को नहीं जानता और रस को जानने वाला रासन प्रत्यक्ष रूप को नहीं जानता तथा रूप और रस—इन दोनों को एक साथ ग्रहण करने वाला प्रत्यक्ष स्वप्न में भी दृष्टिगोचर नहीं होता, अतः अवयवी

का रूप-रसाद्यात्मकपना भी सिद्ध नहीं है। इसके उत्तर में जैनों का कहना है कि चक्षु आदि इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले ज्ञान में एकत्व परिणति विशिष्ट ऊर्ध्व-अधो-मध्य भागात्मक, विशिष्ट आकार से युक्त घट आदि का नाम ही अवयवी है। यदि रूपादि से अतिरिक्त अवयवी का प्रतिभास न होने से अभाव मानते हो तो रूपादि के अभाव का प्रसङ्ग आता है। दूसरी बात यह कि अर्थों का अवयव सम्बन्ध प्रत्यक्ष में दृष्टिगोचर होता है, क्योंकि रस्सी, बाँस, दण्ड वगैरह के एकदेश को खीचने पर अन्य देशों का भी आकर्षण होता है। इसी प्रकार जल-सत्तु वगैरह में स्निग्धता और रूक्षता के कारण ही सम्बन्ध देखा जाता है, अत. अवयव और अवयवी में कथञ्चित् भेद स्वीकार करना ही श्रेयस्कर है।

द्रव्य पदार्थ :

वैशेषिकों का मत है कि द्रव्यत्व के योग से द्रव्य होता है और क्रियावत्व, गुणवत्व तथा समवायिकारणत्व द्रव्यत्व का व्यञ्जक है। इस पर जैनो का कहना है कि क्रियावत्व आकाश आदि द्रव्य व्यक्तियों में असम्भव होने से पृथक्-पृथक् व्यञ्जक नही हो सकते। तत्काल उत्पन्न हुये पट वगैरह में गुणवत्व नही है। समवायिकारणत्व सर्वदा न रहने से द्रव्यत्व का व्यञ्जक नही है, अत. उक्त लक्षण में अव्याप्ति दोष है तथा तीनो को समुदाय रूप द्रव्य का लक्षण मानने पर भी अव्याप्ति दोष रहता है। क्योकि तत्काल उत्पन्न हुये घट वगैरह में क्रिया-वत्व, गुणत्व और समवायिकारणत्व—इन तीनों का ही अभाव है तथा आकाशादि में क्रियावत्व का अभाव है। अतः अनुमान के द्वारा द्रव्य का गुणादि से भेद-व्यवहार सिद्ध नही होता है।

वैशेषिको ने पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन—इन नौ को द्रव्य स्वीकार किया है।

पृथ्वी आदि द्रव्य—पृथ्वी आदि चार द्रव्यों के सम्बन्ध में वैशेषिकों का कहना है कि यदि ये चारों एक हैं तो उनका पृथ्वीत्व आदि प्रतिनियत जाति से सम्बन्ध नही बन सकता है। इस पर जैन तार्किकों का कहना है कि पृथ्वी आदि चारों में अनभिव्यक्त होते हुये भी स्पर्शादि गुण समान रूप से पाये जाते हैं। अत वे परस्पर में अत्यन्त भिन्न द्रव्यान्तर नहीं हैं।

आकाश द्रव्य—इसके सम्बन्ध में वैशेषिकों का कहना है कि शब्द रूपादि की तरह गुण होने से किसी के आश्रित है और जो इसका आश्रय है, वह

आकाश है। आकाश एक और व्यापक है तथा परमाणु की तरह नित्य है और उसका लिङ्ग शब्द है। इस पर जैनों का कहना है कि शब्द गुणवान् और क्रियावान् होते हुये हमारी बाह्य इन्द्रिय का प्रत्यक्ष है, अतः घट की तरह पौद्गलिक है। शब्द आकाश का लिङ्ग नहीं है। इसलिये शब्द के आधार पर आकाश की सिद्धि नहीं हो सकती है। किन्तु एक साथ समस्त द्रव्यों को अवगाह दान रूप कार्य से ही आकाश की सिद्धि होती है।

काल द्रव्य—वैशेषिको का कहना है कि आकाश की तरह काल द्रव्य भी एक, नित्य और व्यापक है तथा पर-अपर आदि प्रत्यय उसके लिङ्ग हैं। इस पर जैनों का कहना है कि यदि काल एक और नित्य रूप है तो उससे होने वाले कार्यों की एक साथ उत्पत्ति का प्रसङ्ग आता है। साथ ही यदि काल नित्य, निरंश, एक द्रव्य रूप है तो पदार्थों में भूत, भविष्यत् और वर्तमानता नहीं बनती है। समय, मुहूर्त आदि के भेद से भी काल-द्रव्य अनेक है। मुख्य और गौण की अपेक्षा से भी काल-द्रव्य अनेक है। मुख्य काल अनेक द्रव्य होने से प्रत्येक आकाश-प्रदेश में व्यवहार-काल भिन्न-भिन्न पाया जाता है। अत लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रत्नो की राशि की तरह कालाणु भिन्न-भिन्न माना गया है। कालाभाववादी के अनुसार काल द्रव्य का अस्तित्व ही सिद्ध नही होता है। क्योकि अनुभूयमान वस्तु को वर्तमान, क्रम से अनुभूयमान जो वस्तु पूर्वक्षणवर्ती होती है उसे भूत और उत्तरक्षणवर्ती को भविष्यत् कहते हैं। इस पर जैनों का कहना है कि भूत, भविष्यत् आदि शब्दों का प्रयोग काल को माने बिना नही हो सकता है, अत अनेक द्रव्य रूप काल वास्तविक ही है। इसलिये वैशेषिकों के द्वारा कल्पित काल-द्रव्य नही बन सकता है।

दिग्द्रव्य—वैशेषिकों का कहना है कि कालकृत पर-अपर आदि प्रत्ययों से भिन्न मूर्त्त द्रव्यों में ही मूर्त्त द्रव्य की सीमा करके यह इससे पूर्व में है, यह इससे पश्चिम में है, इत्यादि प्रत्यय रूप हेतु से दिग्द्रव्य की प्रतीति होती है। इस पर जैनों का कहना है कि पूर्व आदि प्रत्यय काल रूप हैं, अतः इससे कारण मात्र का अनुमान हमें भी स्वीकार है। क्योंकि हम उन प्रत्ययों का कारण आकाश को मानते हैं, एतदर्थ नाम मात्र का अन्तर है। किन्तु यदि आप दिग्द्रव्य नामक कारण विशेष को मानते हैं तो वह गधे के सींग की तरह सर्वथा असम्भव है। क्योंकि आकाश के प्रदेशों की पंक्ति में ही सूर्योदय के कारण पूर्व आदि का व्यवहार बन जाता है। इसके लिये पृथक् दिग्द्रव्य मानने की आवश्यकता नहीं है।

आत्मद्रव्य—इसके सम्बन्ध में वैशेषिकों का कहना है कि आत्मा व्यापकत्व आदि धर्मों से युक्त है। देवदत्त के उपकारक द्वीपान्तरवर्ती मणि-मुक्ता वगैरह की उत्पत्ति में देवदत्त का अदृष्ट गुण कारण है। जिस देश में देवदत्त की पत्नी का शरीर आदि उत्पन्न होता है, उसमें उसके उत्पादक कारणों की तरह देवदत्त के गुणों की भी सिद्धि होती है, क्योंकि गुणी के बिना गुण नहीं रहते। आत्मा यदि शरीर परिमाण है, तो शरीर को काटने पर आत्मा के कटने का प्रसङ्ग आता है। इस पर जैनों का कहना है कि आत्मा का व्यापकत्व प्रत्यक्ष बाधित है और उसके समर्थन में दिया गया हेतु कालात्ययापदिष्ट है। 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकार के प्रत्यक्ष के द्वारा अपने शरीर में ही आत्मा का ग्रहण होता है। देवदत्त के आत्मा के ज्ञान-दर्शनादि गुण प्रत्यक्ष से देवदत्त के शरीर मे ही पाये जाते है। हाँ, देवदत्त के पुण्य-पाप आदि को देवदत्त की पत्नी के उत्पन्न होने में कारण जैन भी मानते है, किन्तु वे पुण्य-पाप रूप कर्म अचेतन है और पौद्गलिक हैं। अत जैन उनको देवदत्त की आत्मा का गुण नही मानते हैं। शरीर का छेद (विनाश) होने पर आत्मा का छेद नही होता है, क्योंकि शरीर से सम्बद्ध आत्म-प्रदेशो से छिन्न हुये शरीर-प्रदेश में आत्म-प्रदेशों के रहने का नाम ही आत्मा का छेद है और ऐसा छेद आत्मा मे होता है, क्योंकि शरीर से कटकर पृथक् हुये शरीर-प्रदेश मे कम्पन आदि होता ही है। अत. आत्मा सामान्य और विशेष से युक्त होते हुये लोगो के प्रत्यक्ष का विषय है।

मनोद्रव्य—वैशेषिको के अनुसार मन कार्य नही हो सकता है, क्योंकि उसको बना सकने वाले कारणों का अभाव है, अत. मन आकाश की तरह नित्य है। इस पर जैनाचार्यों का कथन है कि जिस प्रकार पृथ्वी आदि द्रव्य की अपेक्षा से तन्तु पट वगैरह में सजातीयता होने से कार्य-कारणभाव है, वैसे ही पुद्गल द्रव्य की अपेक्षा मन परमाणु का सजातीय है, अत. उसमें कार्य-कारणभाव सिद्ध होने से मन के नित्यपने मे बाधा आती है। इसलिये मनोद्रव्य की सिद्धि नही होती है।

इस प्रकार वैशेषिकों द्वारा कल्पित द्रव्य-पदार्थ सिद्ध नही होता है।

गुण पदार्थ :

वैशेषिको ने गुण नामक पदार्थ को स्वीकार करते हुये उसका लक्षण बतलाया है कि जो द्रव्य के आश्रय हो, निर्गुण हो, तथा संयोग और विभाग में सापेक्ष कारण हो वह गुण है। यह रूप-रसादि के भेद से चौबीस प्रकार का है। इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि वैशेषिकों द्वारा कल्पित द्रव्य की ही सिद्धि न

होने से गुण द्रव्याश्रित कैसे हो सकता है ? अपेक्षा बुद्धि से दो आदि संख्याओं की उत्पत्ति मानना भी युक्ति-युक्त नहीं है, क्योंकि यदि इच्छा मात्र से अर्थ की उत्पत्ति होने लगे तो सभी को इष्ट अर्थ की सिद्धि का प्रसङ्ग आता है तथा गुण चौबीस ही हैं, ऐसा नियम नहीं बन सकता है, क्योंकि लोक में अन्य शौर्य-औदार्य आदि अनेक गुणों की प्रसिद्धि पाई जाती है। इस क्रम में जैनाचार्यों ने वैशेषिक सम्मत गुणों का पृथक्-पृथक् सयुक्तिक खण्डन किया है।

कर्म पदार्थ :

वैशेषिकों ने कर्म पदार्थ का लक्षण करते हुये लिखा है कि एक द्रव्य जिसका आश्रय होता है, जो न स्वयं गुणरूप है और न जिसमे गुण रहते हैं तथा संयोग और विभाग के करने में जो अन्य कारण की अपेक्षा नहीं रखता उसे कर्म कहते हैं। उत्क्षेपण आदि इसके पाँच भेद हैं। इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि कर्म अर्थ से भिन्न प्रतीत नहीं होता है, अत उसे अर्थ का परिणाम मानना ही उचित है और परिणाम में उत्क्षेपणादि का अन्तर्भाव होने से पृथक्-पृथक् पाँच भेद मानना तर्कसगत नही है।

सामान्य पदार्थ .

वैशेषिको के अनुसार द्रव्य, गुण और कर्म के निमित्त के बिना जो बाधा-रहित अनुगत ज्ञान में निमित्त होता है, उसे सामान्य कहते हैं। यह सामान्य द्रव्यादि से भिन्न प्रतिभासित होता है, जैसे विभिन्न गौ आदि से भिन्न एक अनुगत रूप सामान्य 'गौ गौ' इस प्रकार इन्द्रियजन्य ज्ञान में प्रतिभासमान होता है। इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि यदि सामान्य व्यक्ति से भिन्न होता तो व्यक्ति का ग्रहण हुये बिना भी सामान्य का ज्ञान हो जाता, जैसे घट से भिन्न पट का ज्ञान। किन्तु व्यक्ति को जाने बिना सामान्य को नही जाना जा सकता है, अत. सामान्य व्यक्ति से भिन्न नही है। इस प्रसङ्ग में बौद्धों का कहना है कि नित्य, निरंश, एकरूप सामान्य अनुवृत्त प्रत्यय का कारण नही है, अपितु विजातीय से व्यावृत्ति उसका कारण है। इसके उत्तर में जैनों का कहना है कि जिस प्रकार विजातीय से व्यावृत्ति वस्तु का स्वरूप है, उसी प्रकार सजातीय से व्यावृत्ति भी वस्तु का स्वरूप है। अतः दर्शन के पश्चात् होने वाले विकल्प में विजातीय व्यावृत्ति रूप आकार की तरह सजातीय व्यावृत्ति रूप आकार का भी उल्लेख होना चाहिए। क्योंकि इन दोनों और स्वलक्षण में कोई भेद नहीं है। इस प्रकार सामान्यों में अनुगत स्वभाव रूप और छह पदार्थों में अत्यन्त भिन्न

लक्षण रूप सदृश परिणाम को छोड़कर कोई अन्य निमित्त उक्त प्रत्ययों का नहीं पाया जाता है, अतः सामान्य नामक पदार्थ की सिद्धि नहीं होती है।

विशेष पदार्थ :

वैशेषिकों के अनुसार जो आकाशादि नित्य द्रव्यों में रहते हैं तथा अन्त्य हैं, वे विशेष नामक पदार्थ कहे जाते हैं। योगिजन उनका प्रत्यक्ष करते हैं। इस पर जैनाचार्यों का कथन है कि कोई भी द्रव्य सर्वथा नित्य नही हैं। साथ ही सत् जगत् का महाप्रलय रूप सर्वथा विनाश और सर्वथा असत् जगत् की पुन: उत्पत्ति किसी प्रमाण से सिद्ध नही होती है, जिससे परमाणुओं को जगत् के विनाश और आरम्भ का कोटिभूत होने के कारण अन्त माना जाये और उसमें रहने के कारण विशेषों को अन्त्य कहा जाये। अतः निर्दोष लक्षण न होने से तथा ग्राहक प्रमाण के अभाव के कारण विशेष नामक पदार्थ ही सिद्ध नहीं होता है।

समवाय पदार्थ :

वैशेषिकों ने समवाय पदार्थ का लक्षण करते हुए लिखा है कि—अयुतसिद्ध और आधार्य-आधारभूत पदार्थों में 'इसमें यह है' इस व्यवहार का कारण जो सम्बन्ध होता है, वह समवाय है और वह एक है। उनके अनुसार पृथक् आश्रय में न रहने को अयुतसिद्ध कहते हैं और यह अयुत-सिद्धपना तन्तु-पट में पाया जाता है। इस सन्दर्भ में जैनाचार्यों का कहना है कि वैशेषिक द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष—इन पाँच पदार्थो को समवायी मानता है और जब उनका ही निराकरण कर दिया है तो समवाय नाम का पदार्थ कैसे सिद्ध हो सकता है ? साथ ही तन्तु अपने अवयवो में रहते हैं और पट तन्तुओ में रहता है। अत. दोनों का आश्रय भिन्न होने से तन्तु-पट मे अयुतसिद्धि नही होती है। यतः वैशेषिको ने समवाय को आश्रित माना है, अत भिन्न देशवर्ती, भिन्न कालवर्ती और भिन्न आकार वाले पदार्थों में सम्बन्ध बुद्धि कराने मे हेतु होने से समवाय अनेक है।

सम्बन्ध :

बौद्धो के अनुसार सम्बन्ध का स्वरूप परतन्त्रता रूप, रूपसंश्लेष स्वभाव अथवा परापेक्षा रूप न होने से सभी पदार्थों में कोई सम्बन्ध नही है। अपितु सब पदार्थ परस्पर मे असम्मिश्रित होकर परमार्थ से अपने-अपने स्वरूप में स्थित हैं। इस प्रसङ्ग मे जैनाचार्यों का कथन है कि पदार्थों में एकत्व परिणति रूप पारतन्त्र्य प्रत्यक्षादि प्रमाणो से सिद्ध है। क्योंकि जैनाचार्य पदार्थों में द्रव्यकृत, क्षेत्र-

कृत, कालकृत और भावकृत प्रत्यासत्ति को सम्बन्ध कहते हैं और उसी का नाम पारतन्त्र्य है। सम्बन्धियों का पृथक्-पृथक् न किया जा सकना ही रूपश्लेष है, किन्तु जैनों ने पृथक् रूपता को त्यागकर संश्लिष्ट रूप से एकमेव रूप परिणति को सत्-चाल वगैरह का सम्बन्ध माना है। परापेक्षा रूप सम्बन्ध जैन मानते ही नहीं हैं, क्योंकि एकत्व परिणति रूप सम्बन्ध अपने कारणों से ही उत्पन्न होता है। हाँ, सम्बन्ध व्यवहार में परापेक्ष होने से वह मिथ्या नहीं हो सकता है। अतः अवयव-अवयवी वगैरह में कथञ्चित् एकत्व रूप परिणति सम्बन्ध ही सिद्ध होता है।

सांख्याभिमत तत्त्व :

सांख्य लोग तरङ्ग रहित समुद्र के तुल्य प्रधान (प्रकृति) को जगत् के प्रपञ्च की रचना में कारण मानते हैं। क्योंकि जो एक कारण पूर्वक होता है, उसी में परिमितपना पाया जाता है, जैसे एक मिट्टी से बनने वाले घट, सकोरा आदि। प्रधान में इस प्रपञ्च की सत्ता 'असदकरणात्' ' आदि पाँच हेतुओं से जानी जाती है। प्रधान व्यक्त को करने में प्रवृत्त होता हुआ व्यक्त को उत्पन्न करता है। अतः प्रधान का अस्तित्व सिद्ध है। इसके उत्तर में जैनाचार्यों का कथन है कि सांख्य ने प्रकृति के सद्भाव को सिद्ध करने के लिये पाँच हेतु दिये हैं वे आश्रयासिद्ध होने के कारण अयुक्त हैं, क्योंकि असंवेद्य स्वभाव होने से प्रकृति स्वरूप से ही असिद्ध है। तथा उक्त हेतु व्यधिकरणासिद्ध भी हैं, क्योंकि परिमितपना आदि हेतु भेदों में रहते हैं और साध्य अस्तित्व प्रकृति में। घटादि सभी कार्य सहकारी और उपादान कारणों से उत्पन्न होते हैं, अतः परिमितपने की व्याप्ति अनेक कारण पूर्वक होने से परिमितत्व हेतु विरुद्ध है। तथा महान् आदि जगत् का प्रपञ्च प्रकृति से भिन्न है या अभिन्न ? यदि अभिन्न है तो कोई अन्तर न होने से दोनों ही कार्य या कारण कहे जायेंगे और तब 'प्रकृति कारण ही है और भूतादि कार्य ही हैं' इत्यादि कथन विरुद्ध ठहरता है। अतः प्रकृति का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता है।

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ में विभिन्न दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तों की समीक्षा करते हुये जैन तार्किकों ने बड़ी सावधानी पूर्वक पदार्थों की परीक्षा करके उनके वास्तविक स्वरूप का सतर्क विवेचन किया है।

परिशिष्ट संयोजन :

ग्रन्थ के अन्त में तीन परिशिष्ट जोड़े गये हैं—१. सन्दर्भ-ग्रन्थ, २. उद्धृत वाक्य-सूची और ३. विशिष्ट पारिभाषिक शब्दानुक्रमणिका। प्रथम परिशिष्ट में

ग्रन्थ में प्रयुक्त विविध सन्दर्भ-ग्रन्थों का प्रकाशनादि सहित उल्लेख किया गया है। द्वितीय परिशिष्ट में ग्रन्थ में उद्‌धृत मूल पद्यों, सूत्रों अथवा वाक्य-खण्डों को अकारादि क्रम से ससन्दर्भ उद्धृत किया है। तृतीय परिशिष्ट में ग्रन्थ में समागत विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों का चयन कर पृष्ठोल्लेख पूर्वक अनुक्रमणिका दी गई है। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ को सजाने-सँवारने का प्रयास किया गया है।

आभार प्रदर्शन ·

ग्रन्थ को इस रूप में प्रस्तुत करते हुए हमें ग्रन्थ के लेखक सिद्धान्ताचार्य (स्व०) प० कैलाशचन्द्र शास्त्री का पुन· पुन· स्मरण आ रहा है, जिन्होंने बड़ी ही आत्मीयता के साथ इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि मुझे सौंपी थी। आज इसका सम्पादन कर यद्यपि मुझे आनन्द की अनुभूति हो रही है, किन्तु ग्रन्थ प्रकाशन के अवसर पर पूज्य पण्डित जी की अनुपस्थिति हृदय को कचोट भी रही है। श्रद्धेय पण्डित जी ने ग्रन्थ की पण्डुलिपि सौंपकर हमें इस ग्रन्थ के सम्पादन का जो अवसर प्रदान क्रिया है, उसके लिये हम उनका हृदय से आभार स्वीकार करते हैं और उनकी स्मृति मे यह अर्घ्य उन्हें सविनय समर्पित करते हैं।

जैन वाङ्मय के अप्रतिम विद्वान् श्रद्धेय गुरुवय प० जगन्मोहनलाल जी सिद्धान्तशास्त्री (कटनी) इस ग्रन्थ के सम्पादन में 'अथ' से 'इति' तक प्रेरणास्रोत रहे हैं। सिद्धान्ताचार्य श्रद्धेय प० फूलचन्द्र जी शास्त्री ने हमारा निरन्तर उत्साह-वर्द्धन किया है। अत उक्त दोनो विद्वानों के भी हम हृदय से आभारी हैं।

न्याय विषयक इस दुरूह ग्रन्थ के सम्पादन में पदे-पदे होने वाली कठिनाइयों को दूर करने में हमें जैन और बौद्धदर्शन के विशिष्ट विद्वान् श्रद्धेय प० उदयचन्द्र जी जैन (पूर्व अध्यक्ष, दर्शन विभाग, सस्कृतविद्या धर्मविज्ञान सकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी) का अनन्य सहयोग मिला है। अतः हम श्रद्धेय पण्डित जी के प्रति हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

आदरणीय भाई सा० डॉ० कोमलचन्द्र जैन (अध्यक्ष, पालि एव बौद्ध अध्ययन विभाग, कला संकाय, का० हि० वि० वि०, वाराणसी) एव आदरणीय डॉ० गोकुलचन्द्र जैन (अध्यक्ष, प्राकृत एव जैनागम विभाग, श्रमणविद्या संकाय, सम्पूर्णानन्द सं० वि० वि०, वाराणसी) द्वारा भी हमें ग्रन्थ-सम्पादन में अनेक उपयोगी सुझाव मिले हैं। अत उक्त दोनों विद्वानो के हम हृदय से आभारी हैं।

इस अवधि में श्री सुधीरचन्द्र जैन (जैन भवन, कटरा बाजीराव, मिरजापुर, उ० प्र०) ने अपने वाराणसी प्रवास में मुझे गृह कार्यों से मुक्त रखा है। मेरी

सहधर्मिणी श्रीमती सुषमा जैन ने परिशिष्ट आदि तैयार कराने में सहयोग किया है। अतः ये धन्यवादार्ह हैं।

चि० आनन्दकुमार जैन एवं बिटिया अनामिका जैन ने अपनी बाल-लीलाओं से हमें आह्लादित किया है, अतः हम इन दोनो को अनन्त शुभाशीर्वाद देते हैं और इनके उज्ज्वल भविष्य की मङ्गलकामना करते हैं।

पूरी सावधानी रखने के बाद भी त्रुटियाँ सम्भव हैं। आशा है विद्वज्जन उनके परिमार्जन पूर्वक ग्रन्थ का उपयोग करेंगे।

वाराणसी
दिनांक २६-३-१९८९

डॉ० कमलेशकुमार जैन
जैनदर्शन प्राध्यापक, जैन-बौद्धदर्शन विभाग
संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

विषय-सूची

१. पृष्ठभूमि

जिसके द्वारा वस्तु का स्वरूप यथार्थ रूप से जाना जाता है उसे प्रमाण कहते हैं। प्रमाण और उसके भेदों का स्वरूप 'प्रमाण-नय-निक्षेप प्रकाश'[1] में बतलाया गया है। यहाँ उसके विषय का वर्णन किया जाता है।

जैन सिद्धान्त के अनुसार द्रव्यपर्यायात्मक या सामान्यविशेषात्मक अर्थ प्रमाण का विषय है। दूसरे शब्दो मे प्रत्येक अर्थ अनेकान्तात्मक है, चाहे वह अर्थ बाह्य हो अथवा आन्तर। सकलदेशवर्ती और सकलकालवर्ती प्राणी बाह्य की तरह अन्तस्तत्त्व को भी अनेकान्तात्मक ही अनुभव करते हैं। अनेकान्तात्मक वस्तु के साक्षात्कार का कोई बाधक प्रमाण नही है, यह सुनिश्चित है, अत वही प्रमाण का विषय है। कोई ज्ञान या बाह्य अर्थ न तो केवल सर्वथा सत् रूप ही है, न केवल सर्वथा असद् रूप ही है, न सर्वथा नित्य ही है और न सर्वथा अनित्य ही है, जैसा कि एकान्तवादी बौद्धादि दर्शन मानते हैं। अन्तस्तत्त्व चैतन्य सुखादि पर्यायो से विशिष्ट प्रतिभासमान होता है। इसी तरह बाह्य पुद्गल भी रूपादि नाना पर्यायो से विशिष्ट प्रतिभासमान होता है। अत· प्रत्येक अन्तर्वस्तु और बाह्य-वस्तु द्रव्य की अपेक्षा एकात्मक और पर्याय की अपेक्षा नानात्मक होने से एकानेकात्मक ही प्रतीत होती है।

शङ्का—सुखादि रूप चैतन्य प्रतिनियत अनेकात्मक ही है, एकात्मक नही, क्योकि आह्लाद रूप सुख चैतन्य से पदार्थ के आकार को जानने वाला ज्ञान भिन्न है। विरुद्धधर्माध्यास ही पदार्थों मे भेद का कारण होता है। यदि विरुद्ध धर्म वालो को भी अभिन्न माना जायेगा तो विश्व की एक रूपता का प्रसङ्ग आयेगा।

समाधान—ऐसा कहना ठीक नही है, क्योकि ऐसा मानने से तो चित्रज्ञान में भी एकरूपता के अभाव का प्रसङ्ग आता है, क्योकि चित्रज्ञान मे पीताकार का ज्ञान नीलादि आकारों के ज्ञान से भिन्न है, जैसे सुख-ज्ञान से पदार्थ-ज्ञान भिन्न है। विरुद्ध धर्माध्यास दोनो में समान है।

---

१ प्रमाण-नय-निक्षेप प्रकाश, लेखक सिद्धान्ताचार्य प० कैलाशचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री, प्रकाशक · वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी, प्रथम सस्करण, सन् १९७०।

शायद कहा जाये कि पीतादि आकारो का ज्ञान एकात्मक ही है अनेकात्मक नही, क्योकि चित्रज्ञान के पीतादि आकारो मे भेद करना शक्य नही है तो सुखादि ज्ञान ने ही क्या अपराध किया है, उसे भी एकरूप ही मानना चाहिये। क्योंकि जैसे एक चित्रज्ञान के पीतादि आकारो को उससे भिन्न नही किया जा सकता है, वैसे ही देवदत्त के सुखादि रूप आकारो को देवदत्त से पृथक् करके यज्ञदत्त के नही बनाया जा सकता है।

माध्यमिक बौद्ध—तो सुखादि रूप चैतन्य को एकात्मक ही मानो, अनेकात्मक मत मानो।

जैन—तब तो चित्रज्ञान के भी अनेक रूप होने के अभाव का प्रसङ्ग उपस्थित होता है और ऐसी स्थिति मे घटादि ज्ञान की तरह एक रूप होने से उसे चित्रज्ञान नही कहा जा सकता है।

बौद्ध—चित्रज्ञान मे जो पीतादि आकारो का प्रतिभास प्रतीत होता है, वह तो अविद्या कल्पित है, वास्तविक नही है, एकात्मकता ही वास्तविक है।

जैन—जब एकाकारता और अनेकाकारता—दोनों का ही प्रतिभास चित्रज्ञान मे होता है तो उसमे से एक की वास्तविकता और दूसरे की अवास्तविकता का विवेक कैसे किया जा सकता है?

बौद्ध—एकाकार का अनेकाकार से विरोध है, अत अनेकाकारता अवास्तविक है।

जैन—तो अनेकाकार का एकाकार से विरोध होने के कारण एकाकार ही अवास्तविक क्यों नही है?

बौद्ध—स्वप्नज्ञान मे प्रतीयमान अनेकाकारता अवास्तविक है, यह लोक में प्रसिद्ध है। अत चित्रज्ञान में अनेकाकारता को अवास्तविक मानना उचित है।

जैन—तो आकाश मे भ्रमवश दिखाई देने वाले केशादि में प्रतीयमान एकाकारता अवास्तविक प्रसिद्ध है, अत एकाकारता को अवास्तविक मानना अनुचित कैसे कहा जा सकता है?

बौद्ध—चित्रज्ञान मे प्रतीयमान पीतादि आकार ज्ञान से भिन्न है या अभिन्न? यदि अभिन्न है तो 'यह ज्ञान है और ये पीतादि हैं' इस प्रकार का भेद नहीं बन सकता। और यदि भिन्न हैं तो चित्रज्ञान मे उनका प्रतिभास असम्भव है। यदि प्रतिभास होता है तो वह चित्रज्ञान न होकर ज्ञानान्तर ही हुआ। अत. अनेकाकारता अवास्तविक है।

जैन—तब तो एकाकारता भी अवास्तविक ही है, क्योंकि यदि चित्रज्ञान पीतादि आकारों के प्रतिभास से अभिन्न है तो उसके एकत्व में विरोध आता है। यदि पीतादि आकारों के प्रतिभास से चित्रज्ञान भिन्न है तो पीतादि समस्त आकारो से शून्य चित्रज्ञान की प्रतीति नही हो सकती है, यदि होती है तो वह ज्ञानान्तर सिद्ध होता है। अत बुद्धिमान् पुरुष चित्रज्ञान मे केवल अनेकाकार के प्रतिभास को ही अवास्तविक नही मान सकते।

बौद्ध—एक चित्रज्ञान मे पीतादि आकारो के नही रहने पर भी ज्ञान मात्र तो रहता ही है, अतः कोई विरोध नही है। यदि ज्ञान मात्र भी न रहे तो विरोध आता है।

जैन—ज्ञान मात्र के अभाव में भी अनेक पीतादि प्रतिभासो के होने से कोई विरोध नही आता।

बौद्ध—कही भी एकात्मकता के नही मानने पर नानात्व की व्यवस्था कैसे हो सकती है? क्योकि एक वस्तु मे अन्य एक वस्तु की अपेक्षा से ही अनेकत्व की व्यवस्था बनती है। यदि कही ऐकत्व मानते हो तो चित्रज्ञान मे एकत्व अविरुद्ध क्यो नही है? चित्राकारो के अभाव मे भी चित्रज्ञान मे एकत्व सम्भव है।

जैन—ऐसा कहने वाला व्यक्ति बुद्धिमान् नही है। यदि चित्राकारो के नही रहने पर भी चित्रज्ञान मे ज्ञानाकार सम्भव है तो जैसे परस्पर की अपेक्षा से एक ज्ञानाकार अनेक रूप है, वैसे ही एक पीताकार या नीलाकार का सद्भाव सिद्ध होने पर परस्पर की अपेक्षा से अनेकत्व की सिद्धि हो जाती है। अत अनेकाकार चित्रज्ञान को चैतन्य को एकानेकात्मक सिद्ध करने में दृष्टान्त रूप से उपस्थित किया जा सकता है। अर्थात् जैसे चित्रज्ञान एक होते हुये भी अपने नील-पीत आदि अनेकाकारो मे व्याप्त है, वैसे ही एक चैतन्य-ज्ञान सुखादि अनेकाकारो मे व्याप्त है।

बौद्ध—चैतन्य यदि सुखादि म व्याप्त है तो एक स्वभाव से व्याप्त है या अनेक स्वभाव से। यदि एक स्वभाव से व्याप्त है तो ज्ञान सुखादि एक रूप हो जायेंगे। यदि अनेक स्वभाव से व्याप्त है तो उन अनेक स्वभावो मे भी चैतन्य अन्य अनेक स्वभावो से व्याप्त होगा और ऐसा होने से अनवस्था दोष आता है। अत सुखादि में व्यापी एक चैतन्य सिद्ध नही होता है।

जैन - यह दोष तो चित्रज्ञान में भी समान है। चित्रज्ञान पीतादि आकारो मे एक स्वभाव से व्यापक है या अनेक स्वभाव से? यदि एक स्वभाव से व्यापक

है तो पीतादि आकार एक रूप हो जायेंगे। यदि अनेक स्वभाव से व्यापक है तो अनवस्था दोष आता है।

बौद्ध—पीतादि आकारो से व्यापी उस चित्रज्ञान का स्वय सवेदन होने से कोई दोष नही आता।

जैन—तो सुखादि मे व्यापी चैतन्य का एक साथ और क्रम से स्वय सवेदन होने से कैसे उक्त उपालम्भ दिया जा सकता है ? जो बात अनुभव सिद्ध हो उसमें अनुपपन्नता का प्रश्न ही नही है। अत जैसे चित्रज्ञान एकानेकात्मक है, वैसे ही चैतन्य तथा जड सभी एकानेकात्मक होने से प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है और वही प्रमाण का विषय है।

२. भावैकान्त-विचार

भावैकान्ते पदार्थानामभावानामपह्नवात्।
सर्वात्मकमनाद्यन्तमस्वरूपमतावकम् ॥[1]

सांख्य प्रकृति आदि पच्चीस तत्त्वो को मानता है। यथा -

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्या. प्रकृतिविकृतय. सप्त।
षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृति पुरुष. ॥[2]

मूल प्रकृति कारण ही है, वह किसी से उत्पन्न नही होती। महत्, अहकार और पाँच तन्मात्राएँ—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द कारण भी है और कार्य भी। पाँच बुद्धीन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच महाभूत और मन—ये सोलह विकार अर्थात् कार्यरूप ही हैं तथा पुरुष न किसी का कारण है और न किसी का कार्य।

सांख्य इन पच्चीस तत्त्वों का अस्तित्व ही मानता है। इसी का नाम भावैकान्त है। उसके मानने पर समस्त प्रकार के अभावो का लोप हो जाने से चार दोष आते है। अर्थात् एक-एक अभाव के अभाव मे एक-एक दोष आता है। उसी को बतलाते हैं—

सांख्य के मत में प्रकृति या प्रधान अव्यक्त है और उससे उत्पन्न होने वाले महदादि तथा घटादि कार्य व्यक्त हैं। इन व्यक्त और अव्यक्त में इतरेतराभाव

---

१ आप्तमीमांसा, ९।
२. सांख्यकारिका, ३।

को न मानने पर व्यक्त के अव्यक्त रूप हो जाने से सर्वात्मकता का प्रसङ्ग आता है। आशय यह है कि एक द्रव्य की एक पर्याय का दूसरी पर्याय में जो अभाव होता है, उसे इतरेतराभाव या अन्योन्याभाव कहते हैं। जैसे घट का पट में अभाव है और पट का घट में अभाव है। यदि इस अभाव को न माना जायेगा तो एक वस्तु दूसरी वस्तु रूप हो जाने से सब सबरूप हो जायेंगे। किसी का कोई प्रतिनियत स्वरूप ही नही बन सकेगा। अत॰ सॉख्य ने जो व्यक्त और अव्यक्त प्रधान का भिन्न लक्षण कहा है, उसके कथन मे विरोध आता है। उसने कहा है—

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रित लिङ्गम्।
सावयव परतन्त्र व्यक्त विपरीतमव्यक्तम्॥[1]

व्यक्त प्रधान कार्य रूप होने से कारणवाला है, अनित्य है, अव्यापी है, क्रियावान् है, अनेक है, प्रधान के आश्रित है, प्रधान का लिङ्ग है, उसी से प्रधान के अस्तित्व का अनुमान किया जाता है, सावयव है, प्रधान के अधीन है और अव्यक्त प्रधान उससे विपरीत है।

एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ मे जो अभाव होता है उसे अत्यन्ताभाव कहते हैं। प्रकृति का पुरुष मे अत्यन्ताभाव न मानने पर प्रकृति के पुरुष रूप और पुरुष के प्रकृति रूप हो जाने का प्रसङ्ग उपस्थित होने से सर्वात्मकता दोष आता है। ऐसी स्थिति मे सॉख्य ने जो दोनो के भिन्न-भिन्न लक्षण कहे हैं, उसमें विरोध आता है। उसने कहा है—

त्रिगुणमविवेकि विषय सामान्यमचेतन प्रसवधर्मि।
व्यक्त तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥[2]

व्यक्त और अव्यक्त प्रधान सत्त्व, रज और तमो गुणो से युक्त हैं, ये सत्त्वादि गुण हैं और ये व्यक्ताव्यक्त प्रधान है, ऐसा भेद करना अशक्य है, दोनों ही भोग्य स्वभाव होने से विषय है तथा सब पुरुषो के द्वारा उपभोग्य होने से सामान्य है, अचेतन हैं, दोनो ही प्रसवधर्मी है, क्योकि प्रधान बुद्धि को जन्म देता है, बुद्धि अहकार को, अहकार पॉच तन्मात्राओ और ग्यारह इन्द्रियो को तथा पॉच तन्मात्राएँ पॉच महाभूतो को जन्म देती है। किन्तु पुरुष केवल सामान्य धर्म वाला होने से तो उसके सरूप है, जैसे प्रधान भोग्य होने से सब भोक्ताओं के के लिए साधारण है, वैसे ही पुरुष भी भोक्ता होने से सब भोग्यो के प्रति साधारण है, परन्तु अन्य धर्मों से युक्त न होने से उससे विपरीत है।

---

१ सॉख्यकारिका, १०।
२. सॉख्यकारिका, ११।

कार्य के उत्पन्न होने से पहले जो उसका अभाव होता है उसे प्रागभाव कहते हैं। प्रागभाव का अपह्नव (लोप) करने पर बुद्धि और अहकार आदि जो विकार है, उनके अनादि होने का प्रसङ्ग आता है। ऐसी स्थिति मे साँख्य ने जो सृष्टिक्रम का कथन किया है, उससे विरोध आता है। उसने कहा है—

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशक·।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्य· पञ्च भूतानि ॥[1]

प्रकृति से बुद्धि, बुद्धि से अहङ्कार, अहङ्कार से सोलह गण, उस सोलह गण मे से भी पाँच तन्मात्राओ से पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं।

कार्य की उत्पत्ति के पश्चात् उसका जो अभाव होता है उसे प्रध्वसाभाव कहते है। प्रध्वसाभाव को न मानने पर कार्य के अनन्त (अन्त रहित) होने का प्रसङ्ग आता है। और उस स्थिति मे साँख्य ने जो सृष्टि के सहार का कथन किया है कि—पृथ्वी आदि पाँच महाभूत पाँच तन्मात्राओ मे लीन हो जाते हैं। अर्थात् पृथ्वी गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द तन्मात्रा मे प्रवेश कर जाती है, जल रसादि मे, तेज रूपादि में, वायु स्पश और शब्द तन्मात्रा में, आकाश शब्द तन्मात्रा मे लीन हो जाता है। सोलह गण का अहकार मे सहार हो जाता हैं, अहकार का महान् मे और महान् का प्रकृति मे सहार हो जाता है। यह सृष्टि सहार का क्रम नही बनता है।

ऐसी स्थिति मे किसी भी तत्व का असाधारण स्वरूप व्यवस्थित न हो सकने से सब अस्वरूप हो जाते हैं।

साँख्य[2]—व्यक्त और अव्यक्त प्रधान मे इतरेतराभाव व्यक्ताव्यक्त प्रधान रूप ही है, प्रकृति-पुरुष का अत्यन्ताभाव प्रकृति-पुरुष रूप ही है, महद्-अहकार आदि का प्रागभाव अपने कारण स्वभाव रूप है तथा महाभूत आदि का प्रध्वसाभाव, जिसमे वे लीन होते हैं उस रूप ही है, ऐसा हम मानते हैं। अत अभाव का अपह्नव न करने से हमारे मत मे सर्वात्मक आदि दोष कैसे आ सकते है ?

जैन—ऐसा मानने पर तो भावैकान्त का विरोध होने से सभी वस्तुएँ भावाभावात्मक सिद्ध होती हैं। हम जैन भी अभाव को भाव से सर्वथा भिन्न पदार्थ नही मानते। ऐसा मानने पर तो अभाव मे निस्स्वभावता का प्रसङ्ग आ

---

१ साँख्यकारिका, २२।
२ अष्टसहस्री, पृष्ठ ९३।

जायेगा। अभाव नीरूप या निस्स्वभाव नही है, 'नास्ति' (नही है) इस ज्ञान को उत्पन्न करना ही उसका स्वभाव है, अत अभाव भी भावस्वभाव है। जो 'नास्ति' (नही है) इस प्रकार की प्रतीति और शब्द व्यवहार का विषय है, उस अर्थक्रियाकारी पदार्थ को भावस्वभाव माना गया है। अस्तित्व की तरह नास्तित्व भी वस्तु का धर्म है। वस्तु का जो धर्म 'अस्ति' इस प्रकार के प्रत्यय का विषय होता है उसे अस्तित्व कहते हैं और जो 'नास्ति' प्रत्यय का विषय होता है उसे नास्तित्व कहते है। निष्पर्याय द्रव्यैकान्त मानने पर सर्वात्मक आदि दोषो का परिहार कैसे किया जा सकता है ?

सांख्य—हम सर्व विवर्त रूप एक अनादि-अनन्त प्रधान को मानते हैं। यथाथ मे महत् आदि समस्त विवर्त उससे भिन्न नही हैं, अत आपका उक्त दोषापादन तो हमे इष्ट ही है।

जैन—ऐसा मानने पर तो प्रकृति और पुरुष मे भी कोई अन्तर नही रहेगा। क्योकि सत्ता से भिन्न न प्रकृति का प्रतिभास होता है और न पुरुष का, अत सत्ताद्वैत का प्रसङ्ग आता है।

ब्रह्माद्वैतवादी—सत्ताद्वैत ही रहा आये तो क्या हानि है ? चेतन और अचेतन का भेद तो अविद्या कल्पित है।

जैन—तब आप प्रतीयमान भेदो का अपह्नव किस प्रमाण से करेंगे ? प्रत्यक्ष से तो कर नही सकते, क्योकि प्रत्यक्ष को तो आपने ही विधायक माना है, निषेधक नही माना, अत भेदो का निषेध करने मे उसकी प्रवृत्ति नही हो सकती। अनुमान प्रमाण और आगम प्रमाण से भी प्रतीयमान भेदो का निषेध नही किया जा सकता है, क्योकि उसको भी प्रतिषेधक नही माना गया है। यदि उसको प्रतिषेधक माना जायेगा तो प्रत्यक्ष के भी प्रतिषेधक होने का प्रसङ्ग आ जायेगा, क्योकि अनुमान और आगम प्रमाण का मूल प्रत्यक्ष ही है।

ब्रह्माद्वैतवादी[1]—हम स्वय किसी प्रमाण से भेदो का अपह्नव नही करते, किन्तु भेद के साधनो मे व्यभिचार देखकर भेदो को अविद्याजनित मानते हैं। भेद को सिद्ध करने वाला बौद्ध किस हेतु से भेद की सिद्धि करता है, कारण भेद से या विरुद्धधर्माध्यास से ? 'कारण भेद से ससार मे भेद है' ऐसा तो कहना नही चाहिये, क्योकि हम ब्रह्माद्वैतवादी कारण भेद रूप हेतु को नही मानते। हमारे

---

१. यहाँ से एक ब्रह्म तत्त्व को मानने वाला ब्रह्माद्वैतवादी अद्वैत तत्त्व का समर्थन करता है।

मत से एक ही तत्त्व ससार का कारण है। इसी तरह दूसरा विरुद्धधर्माध्यास रूप हेतु भी हमें मान्य नही है। हाँ, ज्ञान में भेद की प्रतीति होने से पदार्थों मे स्वभाव-भेद माना जा सकता है, किन्तु यह हेतु भी व्यभिचारी है, क्योंकि ज्ञान अभेद रूप है, फिर भी उसका खण्डश प्रतिभास होता है।

बौद्ध—ज्ञान का खण्डश प्रतिभास भ्रान्त है। वास्तव मे वह एक ही है, अत उससे व्यभिचार नही आता। कहा भी है—

अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मविपर्यासितदर्शनै ।
ग्राह्यग्राहकसवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥[1]

एक भी ज्ञानात्मा विपरीत दृष्टि पुरुषो के द्वारा ग्राह्य-ग्राहकरूप ज्ञान-भेद को लिये हुये की तरह प्रतीयमान होता है।

ब्रह्माद्वैतवादी—यह बात तो ब्रह्माद्वैतवाद मे भी समान है। कहा है—

यथा विशुद्धमाकाश तिमिरोपप्लुतो जन. ।
सकीर्णमिव मात्राभिर्भिन्नाभिरभिमन्यते ॥
तथेदममल ब्रह्म निर्विकल्पमविद्यया ।
कलुषत्वमिवापन्न भेदरूप प्रपश्यति ॥[2]

जैसे तैमिरिक रोगी विशुद्ध आकाश को विभिन्न रेखाओ से व्याप्त देखता है, वैसे ही यह निर्मल निर्विकल्प ब्रह्म अविद्या के द्वारा कलुषता को प्राप्त हुये की तरह भेद रूप दिखाई देता है।

अत जैसे ज्ञानाद्वैत मे एक ही ज्ञान प्रतिभास-भेद से ग्राह्य-ग्राहकभेद को लिये हुये प्रतिभासित होता है, वैसे ही एक बाह्य चक्षु आदि ज्ञानो के प्रतिभास-भेद से रूपादि-भेद को लिये हुये प्रतीत होता है।

बौद्ध—अभेदवादी ब्रह्माद्वैत मे चक्षु आदि ज्ञानजन्य प्रतिभास-भेद भी असिद्ध है।

ब्रह्माद्वैतवादी—तो भेदवादी बौद्धमत में क्या एक ही ज्ञानात्मा मे ग्राह्य-ग्राहक रूप प्रतिभास-भेद सिद्ध है ?

---

१ प्रमाणवार्तिक, २।३५४।

२ बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य वार्तिक, ३।५।४३-४४।
मूलग्रन्थ मे 'भिन्नाभिरभिमन्यते' के स्थान पर 'चित्राभिरुपलक्षयेत्', 'रूप' के स्थान पर 'कार' और 'प्रपश्यति' के स्थान पर 'प्रकाशते' पाठ मिलता है।

बौद्ध—संवृति (कल्पना) से सिद्ध है।

ब्रह्माद्वैतवादी—समान ही समाधान है, क्योंकि बौद्ध और ब्रह्माद्वैतवाद—दोनो ही दर्शनो में सवृति से ही भेद को स्वीकार किया गया है। जो यौग [1]इतरेतराभावरूप प्रत्यय के द्वारा पदार्थो में स्वभाव-भेद मानता है उसका इतरेतराभाव रूप प्रत्यय भी अयथार्थ है। क्योंकि 'भूतल घटाभाव वाला है' इस प्रत्यय मे शुद्ध भूतलरूप भाव मे और घटाभाव रूप अभाव में यद्यपि अभेद है, अर्थात् घटाभाव शुद्ध भूतल से कोई भिन्न वस्तु नही है, फिर भी दोनो में इतरेतराभाव रूप प्रत्यय होता है। अत. व्यभिचार-दोष आता है, क्योकि अभाव भाव से भिन्न कोई वस्तु सत् नही है और प्रमाण वस्तु को ही विषय करता है।

यौग--प्रत्यक्ष प्रमाण अभाव को विषय करता ही है, क्योकि अभाव का इन्द्रियो के साथ *सयुक्त-विशेषण-सम्बन्ध है। मैं घटाभाव विशिष्ट भूतल को ग्रहण* करता हूँ ऐसा प्रत्यक्ष होता है, अत इन्द्रियो से सयुक्त भूतल मे घटाभाव के पाये जाने से इन्द्रियो के साथ अभाव का सयुक्त-विशेषण-सम्बन्ध सिद्ध है।

ब्रह्माद्वैतवादी—उक्त कथन ठीक नही है, क्योकि इन्द्रिय प्रत्यक्ष केवल भूतल के सद्भाव को ही ग्रहण करता है। यदि वह अभाव को विषय करने लगे तो वस्तु में वर्तमान अनन्त पररूपो के अभावों को ही क्रम से जानने मे उसकी शक्ति क्षीण हो जाने से वस्तु को जानने का अवसर ही नही आयेगा।

यौग—ज्ञाता शुद्ध भूतल मे घट का स्मरण करके प्रत्यक्ष से उसका अभाव जानता है। भूतल वगैरह मे वर्तमान अनन्त पररूपो के अभाव का स्मरण न होने से उन्हें नही जानता। अत उसे वस्तु को जानने का अवसर क्यो नही आयेगा?

ब्रह्माद्वैतवादी—प्रत्यक्ष स्मरण की अपेक्षा नही करता, यदि वह स्मृति की अपेक्षा करेगा तो वह अपूर्व (पहले नही जाने गये) अर्थ को जानने वाला नही रहेगा, क्योकि स्मृति पूर्व-अनुभूत अर्थ को ही विषय करती है।

यौग—कुछ वस्तु प्रत्यक्ष तो स्मरण की अपेक्षा नही करते, जैसे योगी का प्रत्यक्ष। कुछ वस्तु प्रत्यक्ष स्मरण की अपेक्षा करते है, जैसे सुखादि की साधन वस्तु को देखकर और पूर्वानुभूत सुख के साधन का स्मरण करके यह स्त्री वगैरह सुख के साधन हैं, इस प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञान। इसी तरह कही तो अभाव का

---

१ यहाँ से ब्रह्माद्वैतवादी भेदवादी यौगों का खण्डन करते हुये स्वमत की स्थापना करता है।

—द्रष्टव्य, अष्टसहस्री, पृष्ठ ९४।

प्रत्यक्ष स्मरण की अपेक्षा के बिना होता है, जैसे योगी को अभाव का प्रत्यक्ष। और भूतल वगैरह में जो घटाभाव का प्रत्यक्ष होता है वह स्मरण की अपेक्षा पूर्वक होता है।

ब्रह्माद्वैतवादी—स्मरण सापेक्ष जो विकल्प ज्ञान होता है वह अनुमान आदि की तरह प्रत्यक्ष नही है। प्रत्यक्ष तो समस्त प्रकार की कल्पनाओ का अविषय है। यदि वह स्मृति की अपेक्षा करेगा तो अनवस्था दोष का प्रसङ्ग उपस्थित होता है, क्योकि स्मृति पूर्वानुभव की अपेक्षा करती है और पूर्वानुभव भी अन्य स्मृति की अपेक्षा करता है। इस तरह सुदूर जाकर यदि किसी अनुभव (प्रत्यक्ष) को स्मृति-निरपेक्ष मानते हो तो प्रकृत घटाभाव के ग्राहक अनुभव को भी स्मृति सापेक्ष मानना व्यर्थ है। अत सब प्रत्यक्ष स्मृति-निरपेक्ष ही होते हैं। ऐसा प्रत्यक्ष यदि अभाव को विषय करता है तो भाव को जानने का उसे अवसर ही नही आयेगा। अत प्रत्यक्ष अभाव को नही जानता। उसका विषय तो केवल सन्मात्र है। उसी मे वह प्रमाण माना जाता है।

यौग—तो अभाव को अनुमान से जान लेगे।

ब्रह्माद्वैतवादी—अभाव तो निस्वभाव है, उसमे किसी प्रकार की कोई शक्ति नही है। ऐसे अभाव का न कोई स्वभाव है और न कोई कार्य है। तब कैसे स्वभावरूप या कार्यरूप हेतु से अभाव को जाना जा सकता है। अनुपलब्धि रूप हेतु तो अभाव की असिद्धि ही करता है, अत उससे भी अभाव को नही जाना जा सकता है।

इसलिये केवल सन्मात्र तत्त्व ही सत् है। भेद की प्रतीति तो अविद्यावश होती है। स्वय असत् अविद्या देश, काल, अवस्था आदि असत्-भेदो का ही दर्शन कराती है, वह सब वास्तविक नही है।

इस प्रकार ब्रह्माद्वैतवादी के द्वारा भेद रहित सत्ताद्वैत की सिद्धि करने पर भेदाभेदवादी जैन कहते है कि सर्वथा अद्वैतवाद मे साध्य और साधन का भेद न होने पर किस हेतु से किस साध्य को सिद्ध किया जा सकता है, क्योकि अद्वैतवाद मे साधन साध्य से अभिन्न है, भिन्न मानने पर द्वैत का प्रसङ्ग आता है। इसका विशेष कथन आगे किया जायेगा। अत भावैकान्त मानने पर सर्वात्मकता आदि पूर्वोक्त दोष आते हैं।

आगे प्रागभाव और प्रध्वसाभाव को न मानने पर दूषण देते हैं[२]—

---

१. द्रष्टव्य, अष्टसहस्री, पृष्ठ ९६।

२ द्रष्टव्य, अष्टसहस्री, पृष्ठ ९७।

कार्यद्रव्यमनादि स्यात् प्रागभावस्य निह्नवे।
प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत्॥[1]

कार्य की उत्पत्ति से पूर्व जो उसका अभाव होता है उसे प्रागभाव कहते हैं। प्रागभाव को न मानने पर घटादि कार्य अनादि हो जायेंगे। तथा कार्य के उत्पन्न होने के पश्चात् उसका जो अभाव होता है, उसे प्रध्वंसाभाव कहते हैं। प्रध्वंसाभाव को न मानने पर घटादि कार्य अनन्त (अन्त रहित) नित्य हो जायेंगे।

सर्वप्रथम चार्वाक प्रागभाव पर आपत्ति करता है।

चार्वाक—जैन लोग कार्य से पूर्ववर्ती अनन्तर परिणाम को प्रागभाव मानते हैं। अर्थात् घट उत्पन्न होने से अव्यवहित पूर्व क्षण में जो अवस्था है वही घट का प्रागभाव है। ऐसी स्थिति मे उस अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती परिणाम से पहले जो अनादि परिणाम सन्तति है, उसमे कार्य के सद्भाव का प्रसङ्ग आता है, क्योकि आप तो कार्योत्पत्ति से पूर्ववर्ती अनन्तर परिणाम को ही प्रागभाव मानते है। उससे पहले की जो परिणाम परम्परा है, उसमे उस प्रागभाव का अभाव है और प्रागभाव के अभाव को ही कार्य कहते हैं।

जैन—अनादि पूर्व परिणाम सन्तति का और कार्य का परस्पर में इतरेतराभाव है।

चार्वाक—तो कार्य के अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती परिणाम का और कार्य का भी परस्पर मे इतरेतराभाव है। उस इतरेतराभाव के ही कारण अव्यवहित पूर्वक्षण के कार्य का अभाव सिद्ध हो जाता है, तब प्रागभाव के मानने की आवश्यकता ही क्या है?

जैन—कार्य प्रागभाव के अभावस्वरूप होता है, इसकी सिद्धि के लिए हम प्रागभाव मानते है।

चार्वाक—तब तो कार्य से पूर्व अनन्तरवर्ती पर्याय से रहित उससे पूर्ववर्ती पर्यायो मे भी कार्य के सद्भाव का प्रसङ्ग आता है, क्योकि प्रागभाव के अभाव का नाम कार्य है और कार्य से केवल अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय उसका प्रागभाव है। अत उससे पूर्वक्षणवर्ती और उत्तरक्षणवर्ती पर्यायो मे भी प्रागभाव का अभाव है ही। पूर्वक्षणवर्ती और उत्तरक्षणवर्ती पर्यायो के भी प्रागभाव का अभावरूप होते हुए भी उनको कार्यरूप न मानना और केवल घटावस्था को ही कार्यरूप मानने में तो कोई हेतु नही है।

---

१ आप्तमीमांसा, १०।

जैन—कार्य से पूर्वक्षणवर्ती अनन्तर पर्याय का प्रागभाव है। और उसी के प्रध्वस का नाम कार्य है। इतरेतराभाव का नाम कार्य नही है। अत उससे पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती समस्त पर्यायो मे घट रूप कार्य का प्रसङ्ग नही आता। क्योकि पूर्वोत्तर क्षणवर्ती पर्यायें प्रागभाव का प्रध्वस रूप नही हैं। उनको तो इतरेतराभाव रूप माना गया है।

चार्वाक—यह तो स्याद्वादी जैनो का मत नही है, बौद्धों का मत है। जैन तो प्रागभाव को अनादि मानते है। यदि घट के पूर्वक्षणवर्ती अनन्तर पर्याय को ही प्रागभाव माना जाता है तो उसमें विरोध आता है।

जैन—हम द्रव्यार्थिक नय से प्रागभाव को अनादि मानते है।

चार्वाक—तो क्या मिट्टी वगैरह द्रव्य का नाम प्रागभाव है? वैसा मानने पर घट मे प्रागभावाभावरूपता कैसे घटित हो सकेगी? क्योकि द्रव्य का तो अभाव होता नही है। और ऐसी स्थिति मे घट कभी उत्पन्न ही नही हो सकेगा। यदि आप का ऐसा मत है कि घट की उत्पत्ति होने से पहले की सभी अनादि सन्तान रूप पर्यायें घट का प्रागभाव है तो जैसे घट के अव्यवहित पूर्ववर्ती पर्याय का विनाश होने पर घट की उत्पत्ति होती है, वैसे ही उस अव्यवहित पूर्व पर्याय के भी पूर्व की पर्यायो का विनाश होने पर घट की उत्पत्ति का प्रसङ्ग आता है। और ऐसा होने पर घट अनादि हो जाता है, क्योकि पूर्व पर्यायो के विनाश की सन्तान भी अनादि है। अत चूंकि सभी पूर्व पर्याये घट के प्रागभाव रूप हैं और प्रागभाव का विनाश घटोत्पत्तिरूप है। चूंकि पर्याय-परम्परा अनादि होने से उसका विनाश भी अनादि है, अत घट के भी अनादि होने का प्रसङ्ग आता है।

जैन—न तो अव्यवहित पूर्ववर्ती पर्याय घट का प्रागभाव है, न मिट्टी वगैरह द्रव्य मात्र प्रागभाव है और न उससे पूर्व की समस्त पर्याय-परम्परा ही घट का प्रागभाव है, किन्तु प्रागभाव द्रव्यपर्यायात्मक है। और वह द्रव्य की अपेक्षा अनादि तथा पर्याय की अपेक्षा सादि है।

चार्वाक—तब तो आप के पक्ष मे दोनो पक्षो के दूषण आते हैं, क्योंकि यदि प्रागभाव द्रव्य की अपेक्षा अनादि है तो उसका कभी विनाश न होने से प्रागभाव अनन्त हो जायेगा और ऐसी स्थिति में सर्वदा कार्य उत्पन्न नही हो सकेगा। तथा यदि प्रागभाव पर्याय की अपेक्षा सादि है तो अनन्तर पूर्ववर्ती पर्याय रूप प्रागभाव का विनाश होने पर जैसे घट उत्पन्न होता है, वैसे ही उससे पूर्व भी घट की उत्पत्ति का निवारण कैसे किया जा सकता है? अन्य तो कोई गति है नही।

नैयायिक—इसीलिए प्रागभाव भाव-स्वभाव नही है। क्योकि वह भाव से विलक्षण है।

चार्वाक—उक्त कथन भी ठीक नही है, क्योकि भाव से सर्वथा विलक्षण अभाव का ग्राहक कोई प्रमाण नही है।

नैयायिक—'अपनी उत्पत्ति से पहले घट नही था' यह प्रत्यय असत् को विषय करता है, क्योकि यह सत्प्रत्यय से विलक्षण है। जो सत् को विषय करता है वह सत् प्रत्यय से विलक्षण नही होता है, जैसे 'सत् द्रव्य' इत्यादि प्रत्यय। किन्तु उक्त प्रत्यय सत्प्रत्यय से विलक्षण है, अत वह 'असत् को विषय करता है' यह अनुमान प्रागभाव का ग्राहक है।

चार्वाक—उक्त कथन ठीक नही है, क्योंकि उक्त अनुमान मे 'प्रागभाव वगैरह मे प्रध्वसाभाव वगैरह नही है' इस प्रत्यय से व्यभिचार आता है, क्योकि यह प्रत्यय प्रध्वसाभाव का अभाव रूप होने से यद्यपि सत् को विषय करता है, फिर भी सत्प्रत्यय से विलक्षण है।

नैयायिक—'प्रागभाव वगैरह मे प्रध्वंसाभाव वगैरह नही है' यह प्रत्यय भी असत् को ही विषय करता है। अत कोई दोष नही है।

चार्वाक—यदि 'प्रागभाव वगैरह में प्रध्वसाभाव वगैरह नही है' यह प्रत्यय अभाव का ग्राहक है तो 'वह अभाव भी प्रकृत प्रागभाव मे नही है' इस असत् को ग्रहण करने वाले प्रत्यय से उसे भिन्न करना चाहिए। और ऐसी स्थिति में अनवस्था दोष का प्रसङ्ग आता है।

नैयायिक—'भाव रूप भूतल वगैरह मे घटादि नही है' यह प्रत्यय मुख्य अभाव को विषय करता है और 'प्रागभाव वगैरह मे प्रध्वसाभाव वगैरह नही है' यह प्रत्यय उपचरित अभाव को विषय करता है। अत अभाव की अनवस्था का दोष नही आता है।

चार्वाक—यह भी ठीक नही है, ऐसा मानने से परमार्थ से प्रागभाव वगैरह के साङ्कर्य का प्रसङ्ग आता हैं। क्योंकि उपचरित अभाव के द्वारा चारो अभावो का परस्पर मे भेद सिद्ध नही हो सकता है, अन्यथा सर्वत्र मुख्य इतरेतराभाव की कल्पना ही व्यर्थ हो जायेगी।

'प्रागभाव भाव-स्वभाव नही है, क्योकि वह 'घट का प्रागभाव' इत्यादि रूप से सर्वदा भाव का विशेषण होता है' नैयायिक का यह अनुमान भी सम्यक् नही है, क्योकि इस अनुमान का हेतु पक्ष मे व्यापक नही है। 'प्रध्वसाभाव

वगैरह मे प्रागभाव नही है' इत्यादि रूप से अभाव, अभाव का भी विशेषण होता है तथा गुण वगैरह से व्यभिचार आता है, क्योकि गुण सर्वदा भाव का विशेषण होने पर भी भाव स्वभाव ही होता है ।

नैयायिक—'मै रूप को देखता हूँ' इत्यादि व्यवहार के द्वारा स्वतन्त्र गुण की भी प्रतीति देखी जाती है, अत· गुण सर्वदा भाव का विशेषण नही होता है ।

चार्वाक—तो 'अभाव तत्त्व' यहाँ अभाव की भी स्वतन्त्र प्रतीति देखी जाती है, अत अभाव मे भी सर्वदा भाव विशेषणत्व सिद्ध नही हो सकेगा ।

नैयायिक—'अभाव तत्त्व' यहाँ अभाव किसका ? द्रव्य का इत्यादि रूप सामर्थ्य से उसके विशेष्य द्रव्यादि का बोध होता है, अत अभाव सदा भाव का विशेषण होता है ।

चार्वाक—तो इसी तरह गुण वगैरह भी सदा भाव के विशेषण रहे आये, क्योकि गुण किसका ? द्रव्य का इत्यादि सामर्थ्य से गुण के विशेष्य द्रव्य की ही प्रतीति होती है ।

तथा, आप प्रागभाव को सादि सान्त मानते है, या सादि अनन्त मानते है, या अनादि-अनन्त मानते है, अथवा अनादि सान्त मानते हैं ? यदि प्रागभाव सादि सान्त है तो प्रागभाव से पहले घट की उपलब्धि का प्रसङ्ग आता है । क्योकि प्रागभाव घट का विरोधी है और सादि होने से प्रागभाव से पहले प्रागभाव का अभाव है । यदि प्रागभाव सादि अनन्त है तो प्रागभाव के काल मे घट की अनुपलब्धि का प्रसङ्ग आता है, क्योकि एक बार उत्पन्न होने के पश्चात् अनन्त होने से प्रागभाव नष्ट नही हो सकता है । यदि प्रागभाव अनादि-अनन्त है तो घट की सदा अनुपलब्धि का प्रसङ्ग आता है । यदि प्रागभाव अनादि सान्त है तो घट की उत्पत्ति होने पर प्रागभाव का अभाव होने से घट की उपलब्धि की तरह समस्त कार्यों की उपलब्धि होनी चाहिए, क्योकि भविष्य मे उत्पन्न होने वाले सब कार्यों का प्रागभाव एक है ।

नैयायिक—जितने कार्य हैं उतने ही प्रागभाव है । अत प्रागभाव का विनाश होने पर भी उत्पन्न होने वाले शेष कार्यों के प्रागभावो का विनाश न होने से घट की उपलब्धि होने पर सब कार्यों की उपलब्धि नही होती है ।

चार्वाक[1]—तो वे अनन्त प्रागभाव स्वतन्त्र हैं या भावाधीन ? यदि स्वतन्त्र है तो काल आदि की तरह भाव-स्वभाव क्यो नही है ? यदि भावाधीन है तो

१ द्रष्टव्य, अष्टसहस्री, पृष्ठ ९९ ।

उत्पन्न हुए भावों के अधीन हैं या उत्पन्न होने वाले कार्यों के अधीन ? प्रथम पक्ष तो ठीक नही है, क्योंकि भाव के उत्पन्न होने पर उसका प्रागभाव नष्ट हो जाता है। दूसरा पक्ष भी ठीक नही है, क्योंकि प्रागभाव के काल मे भविष्य में उत्पन्न होने वाले अतएव असत् पदार्थ प्रागभाव के आश्रय नहीं हो सकते है। यदि जो स्वयं असत् है, वह भी किसी का आश्रय हो सकता है तो प्रध्वसाभाव का भी आश्रय प्रध्वस्त घटादि हो सकता है। जो पदार्थ उत्पन्न नही हुआ है या उत्पन्न होकर नष्ट हो गया है वह किसी का आश्रय नही हो सकता, यदि ऐसा हो तो खर-विषाण वगैरह भी प्रागभाव और प्रध्वसाभाव के आश्रय हो सकेगे।

नैयायिक—प्रागभाव एक ही है। घट का प्रागभाव, पट का प्रागभाव इत्यादि रूप से विशेषण के भेद से उसे उपचार से भिन्न माना जाता है। तथा उत्पन्न पदार्थ के विशेषण रूप से उसका विनाश हो जाने पर भी उत्पन्न होने वाले पदार्थ के विशेषण रूप से उसका विनाश नही होता है, अत प्रागभाव नित्य भी है।

चार्वाक—तो प्रागभाव आदि के भेद से अभाव के चार भेद मानना हो व्यर्थ है। क्योकि विशेषण भेद से एक ही अभाव मे प्रागभाव आदि भेद-व्यवहार बन जायेगा। कार्य के ही पूवकाल से विशिष्ट अर्थ को प्रागभाव, पश्चात् काल से विशिष्ट अथ को प्रध्वसाभाव, नाना अर्थों से विशिष्ट उसी अर्थ को इतरेतराभाव और तीनो कालो मे भी सर्वथा भिन्न स्वभावरूप भाव को अत्यन्ताभाव मान लिया जायेगा। विशेषण के भेद से 'पहले घट नही था' या 'घट नष्ट हो गया' इत्यादि प्रत्यय भेद भी बन जायेगा, जैसे सत्ता के एक होने पर भी द्रव्यादि विशेषण के भेद से भेद-व्यवहार होता है। जैसे आप (नैयायिक-वैशेषिक) सत्ता को एक मानते हैं, क्योकि सर्वत्र सत् सत् प्रत्यय एक ही रूप होता है और अन्य विशेष लिङ्ग का अभाव है, वैसे ही सर्वत्र असत् प्रत्यय भी एक रूप ही होता। और अन्य विशेष लिङ्ग का अभाव है, अत अभाव को भी एक ही माना। यदि कहोगे कि 'पहले घट नही था' इत्यादि प्रत्यय भेद से अभाव के चार भेद माने जाते है तो सत्ता के भी चार भेद क्यो नही मानते ? पहले था, पीछे होगा, वर्तमान में है, पाटलिपुत्र मे है, चित्रकूट में है, घट है, पट है, रूप है, रस है, गमन है—इस प्रकार कालभेद, देशभेद, द्रव्यभेद, गुणभेद और कर्मभेद से प्रत्यय-भेद सत्ता में भी पाया जाता है।

नैयायिक—प्रत्यय-भेद से सत्ता में भेद नही होता है, किन्तु सत्ता के विशेषणों में ही भेद होता है, क्योंकि विशेषण के निमित्त से प्रत्यय-भेद होता है। अत. सत्ता एक ही है।

चार्वाक—तो अभाव विषयक प्रत्यय-भेद भी विशेषण के भेद से ही होता है, अत. अभाव के भेद भी मत मानो। घटाभाव, पटाभाव आदि शब्द ही भिन्न-भिन्न रूप से सुने जाते हैं, किन्तु उनके भेद से अभाव-भेद की प्रतीति प्रत्यक्ष से नही होती है। केवल लोग गतानुगतिकता से प्रागभाव आदि विकल्प मात्र वश पृथ्वी आदि चार महाभूतो मे प्रागभाव आदि का व्यवहार करते हैं, अत प्रध्वसाभावादि की तरह प्रागभाव की भी प्रतीति नही होती है।

यहाँ से जैन कहते है—

इस प्रकार प्रागभाव वगैरह को न मानकर पृथिवी आदि काय द्रव्य को मानने वाले चार्वाक को **'कार्यद्रव्यमनादि स्यात् .'** इत्यादि कारिका के द्वारा दूषण दिया गया है।

प्रागभाव को न मानने पर पृथिवी आदि कार्यरूप द्रव्य अनादि हो जायेगा और प्रध्वसाभाव को न मानने पर अनन्त (अन्त रहित) नित्य हो जायेगा, किन्तु प्रागभाव आदि को न मानने वाला चार्वाक पृथिवी आदि को अनादि-अनन्त नही मान सकता है और यदि माने तो उसका लौकायतपना ही खतरे मे पड जायेगा।

चार्वाक[1]—किन्तु प्रागभाव कैसे सिद्ध हो सकता है ? उसके मानने मे उक्त दूषण जो आते हैं।

जैन—स्याद्वादियो के द्वारा माने गये प्रागभाव मे उक्त दूषण नही आते हैं। नैयायिक वगैरह ने प्रागभाव का जो स्वरूप माना है, उसे तो हम भी नही मानते है। ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा घटादि रूप कार्य का अव्यवहित पूर्ववर्ती उपादान परिणाम ही प्रागभाव है, किन्तु ऐसी स्थिति मे घट से पूर्ववर्ती अनादि परिणाम सन्तति मे घट रूप कार्य के सद्भाव का प्रसङ्ग नही आ सकता है, क्योकि प्रागभाव के विनाश को कार्य रूप माना गया है। कारण के विनाश को ही कार्य का उत्पाद कहते हैं।

चार्वाक—घट रूप कार्य से पूर्व परिणामों को अनादि सन्तान मे प्रत्येक परिणाम (पर्याय) अपने-अपने पूर्व रूप प्रागभाव का अभाव रूप होने से कार्य रूप है ही, तब विवक्षित काय से पहले भी कार्योत्पत्ति का प्रसङ्ग क्यों नही आता है ?

जैन—घट का प्रागभाव मृत्पिण्ड, मृत्पिण्ड का प्रागभाव मिट्टी का ढेला इत्यादि रूप से जो अनादि परिणाम सन्तान है, वह विवक्षित कार्यरूप नही है।

१. द्रष्टव्य, अष्टसहस्री, पृष्ठ १००।

अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती परिणाम का विनाश ही घटरूप कार्य का उत्पाद है, जिस किसी भी परिणाम का विनाश घटोत्पत्ति रूप नही माना गया है। प्रागभाव और उसका प्रागभाव आदि में विवक्षित कार्य का हम इतरेतराभाव नही मानते, जिससे इतरेतराभाव पक्ष में प्रागभाव की व्यर्थता का जो दूषण चार्वाक ने ऊपर दिया है वह आ सके। चूंकि घट का उत्पाद प्रागभाव का विनाश रूप है, अत उसी से उसकी व्यावृत्ति हो जाती है। तथा चूंकि हम कार्य के अव्यवहित पूर्ववर्ती परिणाम को प्रागभाव मानते हैं, अत इससे प्रागभाव की अनादिता मे भी कोई विरोध नही आता है, क्योंकि हम प्रागभाव की सन्तान को अनादि मानते है।

चार्वाक—सन्तान सन्तानी से भिन्न है या अभिन्न ? भेद मानने पर सन्तान और सन्तानी का सम्बन्ध नही बन सकता है। अभेद मे सन्तानी ही रहेगा, सन्तान नही।

जैन—उक्त प्रकार से सन्तान मे दूषण देना उचित नही है। प्रागभाव रूप पूर्व पूर्व भाव क्षणो की ही भेद की विवक्षा न करके सन्तान माना गया है। सन्तानी क्षण की अपेक्षा से प्रागभाव के अनादि नही होने पर भी कोई दोष नही है, क्योंकि ऋजुसूत्रनय प्रागभाव को सादि मानता है। तथा इस पक्ष मे अनादि सन्तान रूप से प्रवर्तित सभी पूर्व पर्याये घट के प्रागभावरूप है ऐसा मानने पर भी अव्यवहित पूव पर्याय का विनाश होने पर जिस प्रकार घट की उत्पत्ति होती है उस प्रकार अव्यवहित पूर्व पर्याय से भी पूर्व की पर्यायो के नष्ट होने पर घट की उत्पत्ति का प्रसङ्ग नही आता है, जिससे घट की अनादिता का दोषापादन किया जा सके। घट से पूववर्ती सभी पर्याय घट के प्रागभाव रूप हैं और उन सभी का अभाव होने पर घट की उत्पत्ति मानी गई है। जैसे घट से अव्यवहित पूववर्ती पर्याय का विनाश न होने पर घट की उत्पत्ति का प्रसङ्ग सम्भव नही है, वैसे ही उससे पूर्ववर्ती किसी भी एक पर्याय का विनाश न होने पर भी घट के समस्त प्रागभावो का विनाश न होने मे घट की उत्पत्ति का प्रसङ्ग सम्भव नही है।

व्यवहारनय की अपेक्षा से तो मिट्टी वगैरह द्रव्य घट वगैरह कार्य का प्रागभाव है, किन्तु ऐसा कहने पर चूकि द्रव्य का अभाव असम्भव है, अत कभी भी घट की उत्पत्ति नही होगी, ऐसा मानकर घट का प्रागभावाभाव स्वभाव होना दुर्घट है, ऐसा नही समझना चाहिए, क्योंकि 'मिट्टी आदि द्रव्य' शब्द से घटादि कार्य रहित और पूर्वकाल विशिष्ट मिट्टी आदि द्रव्य को घटादि के प्रागभाव

रूप माना गया है। और कार्य की उत्पत्ति होने पर उसका विनाश अवश्यम्भावी है, क्योंकि कार्य रहितपने का विनाश हुए बिना, कार्य सहित रूप से उत्पत्ति नही हो सकती है। आगे बतलायेंगे कि उपादान कारण रूप प्रागभाव का क्षय ही कार्य की उत्पत्ति है।

प्रमाण की अपेक्षा से प्रागभाव द्रव्यपर्यायात्मक है, ऐसा कहने में भी दोनों पक्षो में दिये गये दोष नही आते, क्योकि द्रव्य की तरह पर्याय रूप से (सन्तान की अपेक्षा) प्रागभाव को अनादि बतलाया है। शायद कहा जाये कि जो अनादि[1] होता है उसका अन्त नही होता, किन्तु ऐसा एकान्त नही है, क्योकि भव्य जीव का ससार अनादि होने पर सान्त प्रसिद्ध है। अन्यथा किसी की मुक्ति नही हो सकेगी। और ऐसा भी एकान्त नही है कि जो सान्त होता है वह सादि होता है, क्योकि मुक्त जीवो का ससार सान्त होने पर भी अनादि प्रसिद्ध है। अत प्राग-भाव को अनादि मानने पर न तो सर्वदा घट की अनुत्पत्ति ही दुर्निवार है और न उसको सान्त मानने पर घट की पूर्व भी उत्पत्ति ही दुर्निवार है। अत प्रागभाव भाव-स्वभाव ही है और वह भाव की तरह द्रव्य की अपेक्षा एक स्वभाव और पर्याय की अपेक्षा अनेक स्वभाव है, अत उसको सर्वथा एक या सर्वथा अनेक मानने पर जो दोष दिये जाते है, वे यहाँ नही आते।

शायद कहा जाये कि यदि प्रागभाव भाव-स्वभाव है तो 'पहले कार्य नही था' इस प्रकार नास्तित्व प्रत्यय नही हो सकता, किन्तु ऐसा कहना ठीक नही है, क्योकि कार्य का अभाव भावान्तर रूप है और उस भावान्तर रूप अव्यवहित पूर्ववर्ती पर्याय मे कार्य का नास्तित्व प्रत्यय होने मे कोई विरोध नही है। जैसे घट रहित भूतल मे 'घट नही है' इस प्रकार का नास्तित्व प्रत्यय होने मे कोई विरोध नही है। अत प्रागभाव प्रसिद्ध।

इसी तरह नयदृष्टि से प्रध्वसाभाव भी प्रसिद्ध है। ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा उपादेय कपालमाला ही उपादान घट का प्रध्वस है। शायद कहा जाये कि यदि उपादेय क्षण ही उपादान का प्रध्वस है तो उपादेय क्षण मे जो उत्तर क्षण है अर्थात् घट का प्रध्वस होने पर जो कपाल हो जाते है, उन कपालो को भी तोडने पर जो और छोटे छोटे टुकडे हो जाते है उनमे प्रध्वस का अभाव होने से घट के पुनरुज्जीवन का प्रसङ्ग आता है, किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नही है, क्योकि उपादान कारण का नाश होने पर उत्तर पर्याय रूप कार्य की उत्पत्ति

---

१ द्रष्टव्य, अष्टसहस्री, पृष्ठ १०१।

होती है, किन्तु कार्य का नाश होने पर कारण की उत्पत्ति होने का नियम नहीं है। प्रागभाव को उपादान रूप और प्रध्वस को उपादेय रूप माना गया है, अतः प्रागभाव का विनाश होने पर प्रध्वस का जन्म होता है।

चार्वाक—अभावो में उपादानोपादेय भाव कैसे हो सकता है ?

जैन—भावो में कैसे होता है ?

चार्वाक—जिसके होने पर ही जिसका जन्म होता है वह उपादान है और दूसरा उपादेय है।

जैन—तो कारण रूप प्रागभाव के पूर्व क्षणवर्ती होने पर कार्यरूप प्रध्वंसाभाव की उत्पत्ति होती है, अत उन दोनो मे उपादानोपादेयभाव क्यो नही हो सकता ? नैयायिक के द्वारा माने गये तुच्छ रूप अभावो में ही उपादानोपादेयभाव के होने से विरोध है।

तथा व्यवहारनय से घट के उत्तर कालवर्ती और घटाकार से रहित मिट्टी रूप द्रव्य घट का प्रध्वस है। और वह अनन्त है। अत घट से पूर्वकालवर्ती मिट्टी रूप द्रव्य घट का प्रागभाव ही है, प्रध्वसाभाव नही है। तथा घटाकार सहित मिट्टी रूप द्रव्य भी घट का प्रध्वंस नही है, क्योंकि घटाकार रहित और घट के उत्तर कालवर्ती—ये दो विशेषण उसके साथ लगे हुये हैं।

शङ्का—तब तो घट के उत्तर कालवर्ती और घटाकार से रहित जो अन्य मिट्टी है, जो कि घट रूप नही हुई, वह भी घट का प्रध्वस हो सकती है ?

समाधान—उक्त आशङ्का ठीक नही है। क्योकि उक्त वाक्य में द्रव्य पद का ग्रहण किया गया है। वर्तमान घट पर्याय का आश्रय रूप मिट्टी वगैरह ही अन्वयी द्रव्य इष्ट है, सन्तानान्तर नही। सन्तानान्तर तो अपनी ही अतीत और अनागत पर्यायो में अन्वयी होता है, अत वह विवक्षित घट रूप पर्याय का आधारभूत द्रव्य नही हो सकता। अत प्रध्वसाभाव भी वस्तु का धर्म प्रसिद्ध है। और उसके न मानने पर पृथिवी आदि कार्य द्रव्य अनन्त हो जायेंगे।[1]

अब इतरेतराभाव और अत्यन्ताभाव को न मानने वाले वादियों को दूषण देते है—

सर्वात्मक तदेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे।
अन्यत्र समवाये च व्यपदिश्येत सर्वथा ॥[2]

---

1 अष्टसहस्री, पृ॰ १०९।

2 आप्तमीमांसा, ११।

यहाँ सत् पद से सभी वादियो का इष्ट तत्त्व लिया गया है। इतरेतराभाव को न मानने पर वह इष्ट तत्त्व सर्वात्मक हो जायेगा, अर्थात् अनिष्ट रूप से भी उसका अस्तित्व हो जायेगा। चैतन्य का समवाय आत्मा में होता है, यदि जड प्रधान में उसका समवाय हो तो उसे 'अन्यत्र समवाय' कहेंगे। अत अन्यत्र समवाय का अर्थ अत्यन्ताभाव को न मानने पर, अर्थात् प्रधान मे चैतन्य का समवाय मानने पर 'यह चेतन है और यह अचेतन है' इस प्रकार सर्वथा भेद रूप से इष्ट तत्त्व का कथन करने पर अनिष्ट रूप से भी कथन करने का प्रसङ्ग आता है, और अनिष्ट रूप से कथन न करने पर अपने इष्ट रूप से भी कथन नही किया जा सकता है। क्योकि एक तत्त्व में अन्य तत्त्व का अत्यन्ताभाव न होने से तीनो कालो मे भी इष्ट और अनिष्ट तत्त्वो मे भेद ही नही बन सकेगा।

शङ्का—अन्यापोह या इतरेतराभाव किसे कहते है ?

समाधान—स्वभावान्तर से स्वभाव की व्यावृत्ति का नाम अन्यापोह है, जैसे घटस्वभाव से पटस्वभाव भिन्न है। 'स्वभावान्तर से' ऐसा कहने से यह अर्थ निकलता है कि अपने स्वभाव से व्यावृत्ति का नाम अन्यापोह नही है, क्योकि यदि वस्तु अपने ही स्वभाव से भिन्न हो जायेगी तो घटादि का कोई स्वभाव ही नही रहेगा।

शङ्का—तथापि प्रागभाव और प्रध्वसाभाव मे अन्यापोहत्व का प्रसङ्ग आता है ?

समाधान—नही, क्योकि कार्य द्रव्य से यद्यपि पूर्व परिणाम रूप प्रागभाव और उत्तर परिणाम रूप प्रध्वसाभाव स्वभावान्तर है, फिर भी कार्य द्रव्य पूर्वोत्तर परिणाम व्यावृत्ति से विशिष्ट है। इसका खुलासा इस प्रकार है—जिसके अभाव में नियम से कार्य उत्पन्न होता है वह प्रागभाव है और जिसके होने पर नियम से कार्य का विनाश होता है वह प्रध्वसाभाव है। किन्तु न तो इतरेतराभाव के अभाव मे कार्य की उत्पत्ति होती है और न इतरेतराभाव के सद्भाव मे कार्य का विनाश होता है। जैसे जल और अग्नि में इतरेतराभाव है, किन्तु जल के अभाव मे भी अग्नि उत्पन्न नही होती है और जल के सद्भाव मे भी अग्नि का विनाश नही होता है। इस प्रकार जल और अग्नि मे प्रागभाव और प्रध्वसाभाव रूप अभावो के नही होने पर भी इतरेतराभावरूपता ही है।

शङ्का—कही अन्धकार के अभाव में रूपज्ञान उत्पन्न होता है, अत वह उसका प्रागभाव क्यो नही कहा जायेगा ?

समाधान—अन्धकार के अभाव में ही रूपज्ञान की उत्पत्ति होने का कोई नियम नहीं है, किन्ही को अन्धकार में भी दिखलाई देता है। इसीलिये अन्धकार रूपज्ञान का प्रध्वस नही है, क्योंकि अन्धकार के सद्भाव में नियम से रूपज्ञान का अभाव नही देखा जाता है। अत 'स्वभावान्तर से स्वभाव की व्यावृत्ति को अन्यापोह कहते हैं' अन्यापोह का यह लक्षण ठीक ही है। यह लक्षण अत्यन्ताभाव त्रिकाल सापेक्ष होता है। किन्तु घट और पट का इतरेतराभाव त्रिकाल सापेक्ष नहीं है, क्योंकि कदाचित् पट का भी घट रूप से परिणमन सम्भव है। उस प्रकार की कारण सामग्री के मिलने पर पट के घट रूप से परिणत होने में कोई विरोध नही है। क्योंकि पुद्गल के परिणामो मे अनियम देखा जाता है। जैसे चन्द्रकान्तमणि से जल की उत्पत्ति देखी जाती है, जल से मोती की उत्पत्ति देखी जाती है। इस तरह चेतन और अचेतन का तादात्म्य रूप से परिणमन कभी भी नही होता है, यदि हो तो दोनो के तत्त्वान्तर होने में विरोध आता है।

बौद्ध—इतरेतराभाव को न मानने पर चार्वाक के मत मे पृथिवी तत्त्व जलादि रूप हो जायेगा, तथा साख्य के मत मे महत् आदि परिणाम सर्वात्मक हो जायेंगे, यह ठीक है। किन्तु ज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध तो केवल एक विज्ञान मात्र को ही मानता है, अत उसके मत में इतरेतराभाव को न मानने पर भी कोई दूषण नही आ सकता।

जैन—ज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध भी यदि ज्ञान को ग्राह्य नील आदि आकार से कथञ्चित् भिन्न मानता है तो द्वैत की आपत्ति आती है, और यदि सर्वथा भिन्न मानता है तो ज्ञान और उसके ग्राह्य आकार मे उपकार्य-उपकारक भाव न मानने से कोई सम्बन्ध नही बन सकता है।[1] और यदि ज्ञान और उसके ग्राह्याकार मे अभेद मानता है तो यदि ज्ञान ग्राह्य आकार में प्रविष्ट हो जाता है तो ग्राह्य आकार ही रह जायेगा, ज्ञानाकार नही रहेगा। और ग्राहक ज्ञानाकार के न रहने पर ग्राह्याकार का भी अभाव हो जायेगा, क्योंकि ग्राहक ज्ञान के अभाव मे ग्राह्याकार नही रह सकता। यदि ग्राह्य आकार ज्ञान मे प्रविष्ट हो जाता है तो ज्ञान ही शेष रहेगा, ग्राह्याकार नही। और ऐसी स्थिति मे ज्ञान का भी अभाव हो जायेगा, क्योंकि विषय से रहित ज्ञान मात्र नही पाया जाता है।

बौद्ध—ज्ञान से अतिरिक्त कोई ग्राह्य नही है और उस ज्ञान का ग्राहक कोई अन्य ज्ञान नही है। अत. ग्राह्यग्राहकभाव का अभाव होने से ज्ञान स्वय ही प्रकाशित होता है।

---

१. अष्टसहस्री, पृष्ठ ११०।

जैन—इस स्थिति में भी 'ज्ञान ज्ञानाकार है, ज्ञेयाकार नही है' इस प्रकार ज्ञेयाकार रूप स्वभावान्तर से स्वभाव रूप ज्ञानाकार की व्यावृत्ति होने से बौद्ध अन्यापोह को अमान्य कैसे कर सकता है ? क्योंकि स्वभावान्तर से स्वभाव की व्यावृत्ति का नाम ही तो अन्यापोह है।

इसी तरह चित्रैकज्ञानवादी योगाचार बौद्धो को भी चित्रज्ञान में प्रतिभासित होने वाले नील-पीत आदि ज्ञानाकारो में इतर व्यावृत्ति माननी चाहिये। अन्यथा जैसे नील-पीतादि में से एक के ज्ञान को चित्रज्ञान नही कहा जा सकता है, वैसे ही नील-पीतादि आकारों मे इतर व्यावृत्ति न मानने पर उनके ज्ञान को भी चित्रज्ञान नही कहा जा सकेगा। क्योकि उस अवस्था मे चित्रज्ञान के आलम्बन नीलादि मे अभेद स्वभावत्व की आपत्ति आती है। यदि प्रतिभास भेद के अभाव मे भी नीलादि मे भेद माना जायेगा तो कोई एक अभिन्न हो नही बन सकेगा, और निरश स्वलक्षण मे भी अनेकत्व की प्रसक्ति आयेगी। अत पीत आदि विषयो मे स्वरूप-भेद चाहने वाले बौद्ध को अनेक ज्ञानो की तरह एक चित्रज्ञान में भी प्रतिभास-भेद मानना चाहिये। और उसके मानने पर स्वभावान्तर से पारमार्थिक स्वभाव व्यावृत्ति सिद्ध होने से अन्यापोह सिद्ध हो जाता है। तथा ज्ञानगत पदार्थों मे जिस प्रकार परस्पर मे व्यावृत्ति पाई जाती है उसी प्रकार चित्रज्ञान की अपने विषयभूत नीलादि आकारो से और विषयभूत चित्रपट वगैरह की अपने नीलादि आकारो से व्यावृत्ति सिद्ध है।

बौद्ध—किस प्रमाण से उनकी इतर व्यावृत्ति सिद्ध है ?

जैन—चित्रपट आदि को विषय करने वाला चित्रज्ञान नीलादि आकारो से भिन्न है, एक और अनेक स्वभाव होने से, जैसे घट और उसका रूप। इस अनुमान से इतर व्यावृत्ति सिद्ध होती है। क्योकि ऐसा नही कहा जा सकता है कि नीलादि आकार ही अनेक स्वभाव वाले है और नीलादिवान् चित्रपटादि का एक ज्ञान और बाह्य द्रव्य अनेक स्वभाव नही है, जिससे हमारा 'एक और अनेक स्वभाव होने से' यह हेतु असिद्ध साबित हो। क्योकि चित्रपटादि का ज्ञान और बाह्य द्रव्य भी अबाधित प्रतीति के द्वारा सिद्ध है। फिर भी यदि उन्हे नही माना जायेगा तो द्रव्य ही रहेगा, रूपादि नही। और ऐसा होने पर चित्रज्ञान हो रहेगा, उसके विषयभूत आकार नही। अत अन्यापोह को न मानना उचित नही है।

तथा अत्यन्ताभाव को न मानने पर सब सर्वत्र सर्वथा पाये जायेंगे। किन्तु न तो ज्ञानादिक घटादि मे पाये जाते है और न रूपादि आत्मा आदि में पाये

१. अष्टसहस्री, पृष्ठ ११४।

जाते हैं। जिस तरह कोई वस्तु स्वात्मा से पाई जाती है, उसी तरह परात्मा से नही पाई जाती है। यत. कोई स्वेष्ट तत्त्व किसी अनिष्ट तत्त्व मे वास्तविक रीति से नही पाया जाता है, अतः वह स्वेष्ट तत्त्व उस अनिष्ट तत्त्व में त्रिकाल में भी नहीं रहता है। इसी का नाम अत्यन्ताभाव है।

बौद्ध—अभाव का ज्ञान कैसे होता है ?

जैन—कैसे नही होता है ?

बौद्ध—सर्वथा भाव से विलक्षण वास्तविक अभाव का ग्राहक कोई प्रमाण नही है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष रूपादि स्वलक्षण को विषय करता है, अभाव में उसकी प्रवृत्ति नही होती है। क्योंकि अभाव प्रत्यक्ष का कारण नही हो सकता है, यदि वह उसका कारण हो तो उसे स्वलक्षण रूप मानना पडेगा। और जो जिसका कारण नही होता है वह उसका विषय नही होता है। अनुमान प्रमाण भी अपने कारण को ही विषय करता है। क्योंकि अग्नि स्वलक्षण से धूम स्वलक्षण की उत्पत्ति होती है, उसके बाद धूम का दर्शन होता है, उससे धूम का विकल्प होता है, उससे अग्नि का अनुमान होता है। इस तरह अनुमान भी परम्परा से स्वकारण को ही विषय करता है। तथा अभाव को विषय करने वाला अनुमान कार्यानुमान है या स्वभावानुमान ? यदि वह कार्यानुमान है तो अभाव को कारणता की सिद्धि होती है और वह युक्तियुक्त नही है। यदि वह स्वभावानुमान है तो अभाव को भावरूपता सिद्ध होती है, किन्तु अभाव का स्वभाव असम्भव है। शायद कहा जाये कि 'इस भूतल में घट नही है, क्योंकि घट की अनुपलब्धि है' इस अनुमान से अभाव का ग्रहण होता है। किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नही है, क्योंकि पर्युदास रूप से वह अनुमान भूतल को ही विषय करता है। अत अभाव प्रमाण का सर्वथा अविषय है, यह सिद्ध होता है।

जैन—'केवल भूतल का होना ही घटादि का न होना है' ऐसा कहने वाला भी बौद्ध अभाव को नही मानता है, यह आश्चर्य है। 'इस भूतल में घट नही है, अनुपलब्धि होने से' इस अनुमान से भाव रूप भूतल और अभाव रूप घटाभाव का प्रतिपत्ति होती है। बौद्ध का कथन है कि—**'शब्दार्थस्त्रिविधो धर्मो भावाभावोभयाश्रितः'**[1] अत परमार्थ से भाव, अभाव और भावाभाव की प्रतिपत्ति से अभाव को मानने वाला बौद्ध अभाव को प्रतिपत्ति के सम्बन्ध में पूर्वोक्त प्रश्न

---

१ शब्दार्थस्त्रिविधो धर्मो भावाभावोभयाश्रयः।
—प्रमाणवार्तिक, ३।२०६।

कैसे कर सकता है ? और यदि करता है तो मालूम होता है कि उसकी विचार-शक्ति स्वस्थ नही है ।

प्रत्येक वस्तु स्वरूप की अपेक्षा भावात्मक और पररूप की अपेक्षा अभावात्मक है, जैसे सीढ़ी के डण्डे दोनो ओर से दो लम्बे लट्ठो से बँधे होते हैं, वैसे ही वस्तु भाव और अभाव स्वभावों से बद्ध है। यदि आपका ज्ञानाद्वैत स्वरूपादि की तरह पररूपादि से भी सत् है तो भेदरूपता का प्रसङ्ग आता है। यदि पररूपादि की तरह स्वरूपादि से भो उसका अभाव है तो स्वय उसका प्रकाशन नही हो सकता है। कोई भी प्रमाण न तो सर्वात्मना भाव को ही ग्रहण करता है और न अभाव को ही। यदि ऐसा हो तो 'यह घट ही है' ऐसा नियम नही बन सकता। बौद्ध मत में प्रमाण का विषय भाव ही है। और ऐसा मानने वाले एकान्तवादी भाव का नियमित रूप से ज्ञान नही कर सकते, क्योकि कही पर किसी का किसी प्रकार से असत्त्व सिद्ध हुये बिना वस्तु की स्व-स्वभाव मे व्यवस्थिति नही बन सकती। अत उक्त दोषो का परिहार चाहने वाले बौद्ध को अभाव को वस्तु का धर्म मानना चाहिये। अत भावैकान्त मे इष्ट की सिद्धि सम्भव नही है।

३. अभावैकान्त-विचार

आगे अभावैकान्त में दूषण देते है[1]—

अभावैकान्तपक्षेऽपि भावापह्नववादिनाम् ।
बोधवाक्यं प्रमाण न केन साधनदूषणम् ॥[2]

बौद्धाचाय धमकीर्ति ने कहा है—

भावा येन निरूप्यन्ते तद्रूपं नास्ति तत्त्वत ।
यस्मादेकमनेक च रूपं तेषा न विद्यते ॥[3]

जिस रूप से भावो का कथन किया जाता है, परमार्थ से वह रूप नहीं है, क्योंकि उनका एक और अनेक रूप नही है।

इस प्रकार पदार्थो की सत्ता को न मानने वाले माध्यमिको के सर्वनैरात्म्य की प्रतिज्ञा को अभावैकान्त पक्ष कहते हैं। उसमे भी ज्ञानरूप स्वार्थानुमान और

---

१. अष्टसहस्री, पृष्ठ ११५ ।
२ आप्तमीमासा, १२ ।
३. प्रमाणवार्तिक, २।३६० ।

वचनरूप परार्थानुमान प्रमाण के न होने से नैरात्म्य का साधन किससे करेंगे और बाह्य तथा आभ्यन्तर भावों की सत्ता में किससे दूषण देंगे ?

यदि स्वपक्ष का साधन और परपक्ष में दूषण के लिए स्वार्थानुमान और परार्थानुमान को स्वीकार करते है तो अन्तर्बहि. (आभ्यन्तर और बाह्य) रूप तत्त्व की सिद्धि अनिवार्य है। अत बाह्य और आभ्यन्तर तत्त्व परमार्थ सत् हैं, क्योकि उनमें से एक के भी अभाव में साधन और दूषण रूप अनुमान नही बन सकता।

बौद्ध—नैरात्म्यवादी माध्यमिक न तो परमार्थ से स्वार्थानुमान को ही मानता है और न परार्थानुमान को ही, अत उसके द्वारा बाह्य और आभ्यन्तर तत्त्व की सिद्धि माध्यमिक मत मे नहीं की जा सकती, क्योंकि असिद्ध हेतु से साध्य की सिद्धि नही हो सकती।

जैन—तब तो माध्यमिक न तो परमार्थ रूप से नैरात्म्यवाद का साधन कर सकता है और न अनैरात्म्यवाद मे दूषण दे सकता है। और काल्पनिक साध्य-साधन व्यवस्था युक्तिपूर्ण नही मानी जाती। क्योंकि काल्पनिक साधन से वास्तविक सिद्धि असम्भव है। वैसी स्थिति में शून्यवाद की सिद्धि अपरमार्थ होने पर अशून्यवाद की ही सिद्धि का अनुषग आता है।

बौद्ध—[1]ज्ञेय-ज्ञायक भाव वगैरह से शून्य ज्ञान स्वय ही प्रकाशमान होता है। उसमे साधन का व्यवहार केवल संशयादि को दूर करने के लिए ही किया जाता है।

जैन—यदि किसी विषय में तात्त्विक रूप से सशयादि का व्यवच्छेद किया जाता है तो साध्य-साधन की व्यवस्था को काल्पनिक नही माना जा सकता है। यदि नैरात्म्यवाद में सशयादि का व्यवच्छेद भी काल्पनिक ही है तो सशयादि का व्यवच्छेद न होने से नैरात्म्यज्ञान स्वय भी प्रकाशमान नही हो सकता। और ऐसा होने से अन्तर्बहिस्तत्त्व की अशून्यता का प्रसङ्ग आता है। अत शून्यवादी भी तत्त्वोपप्लववादी की तरह केवल बकवाद करता है। उसके मत में न कुछ हेय है और न कुछ उपादेय।

बौद्ध—हम सवृति रूप से (काल्पनिक रूप से) सद्भाव को हेय और शून्यवाद को उपादेय मानते हैं तथा उसी रूप से हेय का निषेध और उपादेय का विधान भी करते हैं, अत. शून्यवादी तत्त्वोपप्लववादी की तरह कोरा बकवादी नही है।

---

१ अष्टसहस्री, पृष्ठ ११६।

जैन—'सवृति रूप से है' इसमे सवृति पद का अर्थ स्वरूप है, पररूप है, उभय है अथवा अनुभय है ? यदि 'सवृतिरूप से है' का अर्थ 'स्वरूप से है' तो हमारे अनुकूल ही है, क्योकि स्याद्वादी जैन ज्ञान की तरह सभी पदार्थो को 'स्वरूप से सत्' मानते हैं। यदि 'सवृतिरूप से है' का अर्थ 'पररूप से नही' है तो यह भी हमे अनुकूल ही है, क्योकि हम प्रत्येक वस्तु को 'स्वरूप से सत्' की तरह 'पररूप से असत्' मानते हैं। जैसे नैरात्म्यवादी का ज्ञान ग्राह्य-ग्राहक आदि भाव से रहित है, वैसे ही पररूप से सब पदार्थो के असत् रूप होने मे कोई विवाद नही है। इसी तरह यदि 'सवृति रूप से है' का अथ 'स्वरूप से सत् और पररूप से असत्' है तब भी काई विवाद नही है। यदि अनुभय रूप अथ है तब भी विवाद नही है। आगे वस्तु को अनुभय रूप भी सिद्ध करेगे।

बौद्ध—सवृति का अर्थ है विचार से असङ्गत।

जैन—यह अथ अयुक्त है, क्योकि विचार के अभाव मे किसी को 'विचार स असङ्गत' नही कहा जा सकता है। तथा शून्यवाद मे कुछ भी निर्णीत नही है, जिसका आश्रय लेकर किसी अनिर्णीत अथ मे विचार किया जा सकता हो। शून्य-वादी को तो सर्वत्र विवाद ही विवाद है। इसी से तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक मे कहा है—

किञ्चिन्निर्णीतमाश्रित्य विचारोऽन्यत्र प्रवर्तते।
सर्वविप्रतिपत्तौ तु क्वचिन्नास्ति विचारणा॥[1]

'किसी निर्णीत बात का आश्रय लेकर अन्यत्र विचार की प्रवृत्ति होती ह, सवत्र विवाद होने पर तो कही विचार नही हो सकता है।'

अत विचार का अभाव होने से उस विचार के द्वारा दूसरो को समझाने के लिए शास्त्र का उपदेश देने वाला और उपदेष्टा की प्रशसा करने वाला बौद्ध कैसे उन्मत्त नही है ?

बौद्ध—बौद्ध का उपदेश है कि समस्त पदार्थ माया या स्वप्न के सदृश है, अत सब पदार्थों का प्रतिक्षेपक बौद्धदशन उन्मत्तवत् नही है। तथा स्वप्न मे होने वाले मिथ्याज्ञान की तरह सभी पदार्थो का ज्ञान मिथ्या है।

इसका उत्तर देते हुए अकलङ्कदेव ने न्यायविनिश्चय मे कहा है—

तत्र शौद्धोदनेरेव कथं प्रज्ञापराधिनी।
बभूवेति वयं तावद् बहु विस्मयमास्महे॥

---

१ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकम्, १।१।१४०।

तत्राद्यापि जडासक्तास्तमसो नापरं परम् ।
विभ्रमे विभ्रमे तेषा विभ्रमोऽपि न सिद्ध्यति ॥'[1]

ससार में दृश्यमान सभी पदार्थों के विषय में बुद्ध की ही बुद्धि कैसे ऐसी हुई कि उसने सभी पदार्थों के अस्तित्व का सर्वथा निषेध करके शून्यवाद की प्रतिष्ठा की, यह हमें बड़ा आश्चर्य है। आज भी जो उस बुद्ध में अज्ञानी लोग आसक्त हैं, यह केवल अज्ञानान्धकार का ही माहात्म्य है। यदि स्वप्नादि के मिथ्याज्ञान की तरह दृश्यमान जगत् का ज्ञान भी मिथ्या है, तो मिथ्याज्ञान स्वय मिथ्या है या सच्चा ? यदि मिथ्याज्ञान मिथ्या नही है तो 'सर्वज्ञान मिथ्या है' यह बात सिद्ध नही होती है। और यदि मिथ्याज्ञान भी मिथ्या है तो मिथ्याज्ञान के मिथ्या होने से जगत् का अस्तित्व ही सिद्ध होता है।

अत भावैकान्त की तरह अभावैकान्त पक्ष भी श्रेयस्कर नही है।

४. भावाभावैकान्त-विचार

परस्पर[2] निरपेक्ष भावैकान्त और अभावैकान्त पक्ष भी ठीक नही, यह आगे स्वामी समन्तभद्राचार्य कहते है—

'विरोधान्नोभयैकात्म्य स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।'[3]

भावैकान्त और अभावैकान्त पक्षो मे दिये गये दोषो का परिहार करने की इच्छा से सबको सर्वथा सदसदात्मक मानने वाले भाट्ट का भी कथन ठीक नही है, क्योकि सर्वथा भाव और सर्वथा अभाव एक वस्तु मे एक साथ नहीं रह सकते। जो किसी वस्तु को सर्वात्मना सत् और सर्वात्मना असत् कहता है उसे कैसे स्वस्थ कहा जा सकता है। जैसे स्वसवेदन से या अनुमान से सर्वथा शून्यवाद को सिद्ध करने वाला बौद्ध ऐसा करने से अपने इष्ट शून्यैकान्तवाद का निरसन करता है और अनिष्ट प्रमाणादि के सद्भाव को अपनाता है, वैसे ही भाव और अभाव का सर्वथा तादात्म्य मानने वाला भाट्ट भी ऐसा करने से अपने इष्ट भावाभावात्मकवाद का निरसन करता है और अनिष्ट भावैकान्त अथवा अभावैकान्त को अपनाता है, क्योकि भाव और अभाव का सर्वथा तादात्म्य मानने

---

१. न्यायविनिश्चय, १।५३-५५।
२ अष्टसहस्री, पृष्ठ ११७।
३. आप्तमीमासा, १३ पूर्वार्द्ध।

पर या तो अभाव का भाव में प्रवेश हो जायेगा या भाव का सर्वथा अभाव मे प्रवेश हो जायेगा। अभिन्न होते हुए भी ऐसा न होने पर भाव और अभाव मे भेद का प्रसङ्ग आता है। अत स्याद्वाद के विरोधियो के लिये भाव और अभाव का सर्वथा तादात्म्य श्रेयस्कर नही है, क्योकि सत् और असत् में परस्पर परिहार स्थिति नाम का विरोध माना जाता है।

वस्तु कथञ्चिद् भावाभावात्मक ही प्रतीत होती है, सर्वथा भावाभावात्मक नही। अत भावैकान्त और अभावैकान्त की तरह सर्वथा भावाभावैकान्तवाद भी बाधित है।

तथा सांख्य व्यक्त प्रधान और अव्यक्त प्रधान को सवथा एक मानता है। उसके मत से महत् आदि की अभिव्यक्ति के कारण त्रैलोक्य का तिरोभाव होता है, क्योकि वह नित्य नही है। तिरोभूत होने पर भी उसका अस्तित्व रहता है, क्योकि विनाश का निषेध है। इस तरह सांख्य मत मे त्रैलोक्य व्यक्त प्रधान रूप से तिरोभूत होता है और अव्यक्त प्रधान रूप से सत् रहता है। अब जैसे अन्धा सर्प अपने बिल मे ही घुसता है, वैसे ही सांख्य भी स्याद्वाद का ही प्रकारान्तर से अवलम्बन लेता है।

सांख्य—परमार्थ से व्यक्त और अव्यक्त प्रधान एक ही है, अत सांख्य के स्याद्वाद का अवलम्बन लेने की बात ठीक नही है।

जैन—तब तो उक्त प्रकार से दोनो का विरोध तदवस्थ रहता है। प्रधानाद्वैत मानने पर तो प्रधान की अपेक्षा नित्यत्व और महदादि रूप से अनित्यत्व—इस प्रकार का उभयैकात्म्य नही बन सकता। यदि वैसा स्वय न मानते हुए भी कथञ्चिद् उभयात्मकतत्त्ववाद को अपनाते हैं तो यह अन्ध सर्प-बिल प्रवेश-न्याय का अनुसरण क्यो नही हुआ। अत. परस्पर निरपेक्ष भावाभावैकान्तवाद सिद्ध नही होता है।

५. अवाच्यतैकान्त-विचार

अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥[1]

भावैकान्त, अभावैकान्त और उभयैकान्त पक्षो में दिये गये दोषों का परिहार करने की इच्छा से जो बौद्ध तत्त्व को सर्वथा अवक्तव्य मानता है, वह भी उसे

---

१. आप्तमीमासा, १३।

'अवक्तव्य' कैसे कह सकता है ? क्योंकि अवाच्यैकान्त में अवक्तव्य शब्द का कथन सम्भव नहीं है। तब वह दूसरों को कैसे समझायेगा कि तत्त्व अवक्तव्य है। स्वसंवेदन ज्ञान से तो दूसरों को समझाया नहीं जा सकता। और दूसरों को न समझा सकने के कारण उसे परीक्षक कैसे कहा जा सकता है ? और उसके अपरीक्षक होने पर अल्पज्ञ से उसमें विशेषता कैसे सिद्ध हो सकती है ? क्योंकि अपरीक्षित तत्त्व को स्वीकार करने पर सभी निरंकुश हो जायेंगे।

बौद्ध—उक्त दोष ठीक नही हैं। जैसे 'स्वलक्षण अनिर्देश्य है' 'प्रत्यक्ष कल्पनापोढ है' वैसे ही 'सब तत्त्व अवाच्य हैं' ऐसा कहने में भी कोई विरोध नही है, क्योकि अवाच्य शब्द के बिना दूसरो को उसे समझाया नही जा सकता।

जैन—उक्त कथन ठीक नही है। जो असिद्ध है उसे उदाहरण के रूप मे उपस्थित करना युक्त नही है। यदि स्वलक्षण सर्वथा अनिर्देश्य है तो 'स्वलक्षण अनिर्देश्य है' इस वचन के द्वारा उसे निर्देश्य करना ठीक नही है।

बौद्ध—स्वलक्षण स्वलक्षण शब्द से भी निर्देश्य नही है। स्वलक्षण शब्द स्वलक्षण सामान्य (अन्यापोह) को ही कहता है। स्वलक्षण मे निर्देश तो असम्भव है। कहा भी है कि—'अर्थ में शब्द नही है और शब्द अर्थात्मक ही हैं, जिससे अर्थ का प्रतिभास होने पर शब्दों का भी प्रतिभास हो जाये'।[1] निर्देश्य शब्द से काल्पनिक स्वलक्षण का अथवा उसके निर्देश्यत्व धर्म का निर्देश किया जाता है, उसमे कोई विरोध नही है।

जैन—तब तो स्वलक्षण अज्ञेय हो जायेगा। क्योकि जैसे इन्द्रिय विषय स्वलक्षण मे शब्द नही है, वैसे ही इन्द्रियज्ञान मे स्वलक्षण रूप विषय भी नही है। अत इन्द्रियज्ञान के प्रतिभासमान होने पर भी विषय का प्रतिभास नही होता। यह कहा जा सकता है कि 'जो जहाँ आधेय रूप से नही है अथवा तदात्मक नही है उसका प्रतिभास होने पर भी वह प्रतिभासित नही होता है, जैसे इन्द्रिय विषय स्वलक्षण मे शब्द।' इन्द्रिय ज्ञान मे इन्द्रिय विषय स्वलक्षण न तो आधेय रूप से है और न वह तदात्मक है। अत ज्ञान के प्रतिभासमान होने पर भी अर्थ स्वय प्रकाशित नही होता है।

बौद्ध—इन्द्रियज्ञान विषय की सामर्थ्य से उत्पन्न होता है, अत इन्द्रियज्ञान का प्रतिभास होने पर विषय का भी प्रतिभास होता ही है।

---

१ न ह्यर्थे शब्दा सन्ति तदात्मानो वा येन तस्मिन् प्रतिभासमाने तेऽपि प्रतिभासेरन्निति।

—अष्टसहस्री, पृष्ठ ११८।

जैन—यह भी ठीक नही है, तब तो इन्द्रिय की शक्ति के भी प्रतिभास का प्रसङ्ग आता है, क्योंकि विषय की सामर्थ्य से ही केवल निर्विकल्पज्ञान उत्पन्न नही होता है, किन्तु चक्षु आदि की शक्ति से भी उत्पन्न होता है, अत विषय की तरह चक्षु आदि की शक्ति का भी प्रतिभास होना चाहिये।

बौद्ध—दर्शन (निर्विकल्पज्ञान) विषय के आकार का अनुकरण करता है अर्थात् ज्ञान ज्ञेयाकार होता है, अत दर्शन मे विषय का प्रतिभास होता है इन्द्रिय का नही, क्योंकि दर्शन इन्द्रिय के आकार का अनुकरण नही करता है।

जैन—तो उसे अर्थ की तरह इन्द्रिय के आकार का भी अनुकरण करना चाहिये, या फिर अथ के भी आकार का अनुकरण नही करना चाहिये। क्योंकि अर्थ और इन्द्रिय—दोनो ही उसके कारण है, और कारण रूप से दोनो मे कोई विशेषता नही है।

बौद्ध—जैसे पुत्र पिता के आकार का अनुकरण करता है, वैसे ही कारणान्तर के होने पर भी निर्विकल्पकज्ञान विषय के ही आकार का अनुकरण करता है।

जैन—यह कथन भी व्यर्थ है, क्योंकि इसमे तो केवल अपने उपादान मात्र के ही अनुकरण का प्रसङ्ग आता है। यदि कहोगे कि वह विषय और उपादान—दोनो के आकार का अनुकरण करता है तो रूपादि की तरह उपादान (पूर्वज्ञान) भी उसका विषय होना चाहिये, क्योंकि दोनो मे कोई विशेषता तो है नही।

बौद्ध—यद्यपि निर्विकल्पज्ञान विषय और उपादान—दोनो से उत्पन्न होता है और दोनो के आकार का अनुकरण भी करता है, फिर भी वह विषय मे ही सविकल्पक ज्ञान को उत्पन्न करता है, अत वह बाह्य अर्थ को ही विषय करता है, उपादान को नही।

जैन—यह बात भी निस्सार है। क्योंकि रूपादि की तरह उपादान मे भी सविकल्पक ज्ञान को उत्पन्न करने का प्रसङ्ग आता है। यदि उपादान म वह सविकल्पक को उत्पन्न नही करता है तो रूपादि मे भी उत्पन्न नही करना चाहिये। फिर रूपादि मे निर्विकल्पक निश्चय सम्भव नही है, क्योंकि बौद्ध रूपादि को निर्विकल्पक ज्ञान का विषय मानता है और निर्विकल्पक ज्ञान अध्यवसायात्मक नही होता है। यदि वह अध्यवसायात्मक या विकल्पात्मक हो तो वह स्वलक्षण को विषय नही कर सकता है।

बौद्ध—यह कोई दोष नही है, क्योंकि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सविकल्पक ज्ञान का हेतु है, अत वह स्वय सविकल्पक नही है।

जैन—बौद्ध का उक्त कथन ठीक नही है। रूपादि की तरह निर्विकल्पक में शब्द का संसर्ग नही है, क्योंकि वह शाब्दिक कल्पना से रहित होता है तथा अनभिलापात्मक (अशब्दात्मक) स्वलक्षण रूप अर्थ से उत्पन्न होता है। फिर भी यदि वह सविकल्पक ज्ञान को उत्पन्न करने में हेतु है तो स्वलक्षण रूपादि हेतु क्यों नही है ? स्वय[1] शब्द शून्य भी निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सविकल्पक का हेतु है, किन्तु रूपादि उसका हेतु नही है, इसे कैसे ठीक कहा जा सकता है ?

बौद्ध—दीपक से कज्जल की तरह विजातीय कारण से भी कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है। अत निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से भी सविकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

जैन—तब तो स्वलक्षण रूप अर्थ मे सविकल्पक प्रत्यक्ष की उत्पत्ति होनी चाहिए।

बौद्ध—जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया और परिभाषा—इन पाँचो कल्पनाओ से रहित अर्थ से जात्यादि कल्पना से युक्त सविकल्पक प्रत्यक्ष कैसे उत्पन्न हो सकता है ?

जैन—तो जात्यादि कल्पना से रहित निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से जात्यादि कल्पना विशिष्ट सविकल्पक प्रत्यक्ष कैसे उत्पन्न होता है ?

बौद्ध—सविकल्पक प्रत्यक्ष जाति आदि को विषय करता है, इसीलिए सविकल्पक है। निर्विकल्पक से उत्पन्न होने के कारण वह सविकल्पक नही है।

जैन—जैसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष जाति आदि को विषय नही करता है, वैसे ही उससे उत्पन्न सविकल्पक प्रत्यक्ष भी जाति आदि को विषय नही कर सकता है। जैसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष मे शब्द ससर्ग की योग्यता नही है, वैसे ही उससे उत्पन्न होने वाले सविकल्पक में भो नही होनी चाहिये। क्योकि कार्य अपने उपादान कारण के समान ही होता है।

बौद्ध—तो फिर सविकल्पक प्रत्यक्ष जाति आदि का निश्चय कैसे करेगा ?

जैन—कैसे भी नही करेगा। क्योकि किसी वस्तु को किसी से विशिष्ट ग्रहण करने के लिए कही पर विशेषण, विशेष्य और उन दोनो के सम्बन्ध की व्यवस्था का ग्रहण अपेक्षित होता है। सविकल्पक प्रत्यक्ष इतना काम नही कर सकता है, क्योंकि वह क्षणिक निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से उत्पन्न होता है, अत उसी की तरह क्षणिक होने से अविचारक है।

---

१. अष्टसहस्री, पृष्ठ ११९।

बौद्ध—सविकल्पक प्रत्यक्ष केवल निर्विकल्पक से ही उत्पन्न नही होता है, किन्तु शब्दार्थ विकल्प-वासना से भी उत्पन्न होता है और यह विकल्प-वासना भी पूर्व विकल्प-वासना से उत्पन्न होती है। इस तरह विकल्प-वासना की सन्तान अनादि है तथा निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की सन्तान से भिन्न है। अत हम विजातीय से विजातीय की उत्पत्ति नही मानते हैं। उसके मानने पर भी उक्त दूषण आते हैं।

जैन—शब्दार्थ विकल्प-वासना से उत्पन्न होने वाले सविकल्पक प्रत्यक्ष से निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का विषय रूपादि ही है, यह कैसे सिद्ध होगा ? यदि वासना से उत्पन्न होने वाले सविकल्पक प्रत्यक्ष से निर्विकल्पक के विषय का नियम सिद्ध होता है तो मनोराज्य आदि विकल्प से भी उसकी सिद्धि का प्रसङ्ग आयेगा। यदि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सहकारी वासना विशेष से उत्पन्न हुए रूपादि विकल्प से निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के रूपादि विषयत्व का नियम मानते हो तो उसी से उत्तर निर्विकल्पक ज्ञान के उपादान रूप पूर्व निर्विकल्पक ज्ञान के विषय का नियम भी मानो। अन्यथा निर्विकल्पक के रूपादि विषय का नियम भी मत मानो।

बौद्ध—सविकल्पक मे रूपादि का उल्लेख रहता है, अत उसके बल से उत्तर निर्विकल्पक ज्ञान के उपादान रूप पूर्व निर्विकल्पक ज्ञान के विषय का नियम मानते है।

जैन—तो उसी की तरह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के शब्द ससर्ग का भी अनुमान करना चाहिये। क्योकि यदि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष मे शब्द ससर्ग न होता तो उसके पश्चात् होने वाले सविकल्पक मे शब्द के द्वारा कहे जाने वाले जाति आदि का उल्लेख न पाया जाता। और इस अनुमान से अनुमित निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के शब्द ससर्ग से रूपादि के भी शब्द ससर्ग का अनुमान कर लेना चाहिये, अर्थात् रूपादि में शब्द ससर्ग है, क्योकि उसके बिना रूपादि से उत्पन्न होने वाले निर्विकल्पक प्रत्यक्ष मे शब्द का ससर्ग नही हो सकता। और ऐसा होने पर शब्दाद्वैतवादी का मत सिद्ध हो जाता है। किन्तु बौद्ध निर्विकल्पक प्रत्यक्ष मे शब्द का ससर्ग नही मानता है। अत वह किसी वस्तु को देखने पर उसके सदृश पहले देखी हुई वस्तु का स्मरण नही कर सकता, क्योकि शब्द ससर्ग के बिना उसके नाम विशेष का स्मरण नही हो सकता। स्मरण न होने पर उसके नाम को नही जान सकता। [1]न जानने पर उस नाम के साथ उस वस्तु की योजना नही कर सकता। योजना न करने पर

१ अष्टसहस्री, पृष्ठ १२०।

उसमें विकल्प को उत्पन्न नहीं कर सकता। और ऐसा होने पर न कही विकल्प होगा और न शब्द। अत: जगत् विकल्प और शब्द से रहित हो जायेगा।

बौद्ध—विकल्प का कारण नाम है और उसका वेदन प्रत्येक आत्मा को होता है तथा सभी मनुष्यों के श्रोत्रज्ञान में शब्द का प्रतिभास होता है। तब जगत् कैसे विकल्प और शब्द रहित हो जायेगा।

जैन—स्वसंवेदन प्रत्यक्ष अथवा निर्विकल्पक इन्द्रिय प्रत्यक्ष से विकल्प और शब्द का ग्रहण नहीं होता। यदि निर्विकल्प से सविकल्पक का ग्रहण हो सकता है तो निर्विकल्पक से ही स्थिर स्थूल वस्तु का आकार ग्रहण हो जाने से सविकल्पक की आवश्यकता ही न रहती। इसलिये विकल्प और शब्द का निश्चय होना असम्भव है। क्योंकि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत भी अगृहीत के समान है, यत निर्विकल्पक प्रत्यक्ष नाम-जाति आदि की योजना के साथ ग्रहण नही करता है।

बौद्ध—हमारे मत मे कोई किसी नील वगैरह या सुख वगैरह को जानता हुआ उसका और उसके समान पहले जानी हुई वस्तु के नाम विशेष का क्रम से स्मरण नही करता, किन्तु दोनों का एक साथ ही स्मरण होता है। क्योंकि दृश्य वस्तु के देखने से ही दोनों के संस्कारों का एक साथ प्रबोध होता है। अत किसी वस्तु को देखते ही उसके सदृश पूर्व दृष्ट वस्तु का स्मरण होता है उसी समय उसके नाम विशेष का स्मरण होता है, उससे 'उसका अमुक नाम है' इस प्रकार शब्द-बोध होता है। उससे (उस नाम से) उस दृश्य वस्तु को युक्त कर देने से वस्तु का निश्चय होता है, अत कोई दूषण नही आता।

जैन—दृश्यमान और उसके समान पूर्वदृष्ट वस्तु के नाम का स्मरण एक साथ होना युक्त नही है, क्योंकि एक साथ दो स्मरण नही माने हैं। तथा बौद्ध मत में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण अनभिलाप्य (शब्द से कथन करने के अयोग्य) है और सामान्य अभिलाप्य है। तो अनभिलाप्य स्वलक्षण का प्रत्यक्ष होने पर अभिलाप्य सामान्य का स्मरण कैसे हो सकता है, क्योंकि सह्य और विन्ध्य पर्वत की तरह स्वलक्षण से सामान्य का अत्यन्त भेद है।

बौद्ध—विशेष स्वलक्षण और सामान्य का एकत्वाध्यवसाय कर लेने से विशेष का प्रत्यक्ष होने पर सामान्य का स्मरण उचित ही है।

जैन—तो दोनों का एकत्वाध्यवसाय कैसे होगा? प्रत्यक्ष से तो हो नहीं सकता, क्योंकि वह सामान्य को विषय नहीं कर सकता। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के

पश्चात् होने वाले सविकल्पक से अथवा अनुमान से भी उनका एकत्वाध्यवसाय नहीं हो सकता, क्योंकि सविकल्पक और अनुमान विशेष को विषय नहीं करते। और ऐसा कोई प्रमाण बौद्ध ने नहीं माना है जो सामान्य और विशेष—दोनों को विषय कर सकता हो। और दोनों में से एक को विषय करने वाले प्रमाण से दोनों को एकत्वाध्यवसाय मानने पर इन्द्रिय ज्ञान के द्वारा परमाणु वगैरह का भी एकत्वाध्यवसाय होने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा।

तथा बौद्ध शब्द और अर्थ के वाच्य-वाचक सम्बन्ध को अस्वाभाविक मानते हैं। ऐसी स्थिति में अर्थ मात्र का प्रत्यक्ष करने वाला बौद्ध शब्द का स्मरण कैसे करेगा और शब्द को सुनकर उसके अर्थ का स्मरण कैसे करेगा ? सह्य पर्वत को देखने से विन्ध्य का स्मरण नही होता।

बौद्ध—शब्द का विकल्प्य (सामान्य) के साथ तदुत्पत्ति लक्षण सम्बन्ध माना है और शब्द का तथा विकल्प्य का दृश्य स्वलक्षण के साथ एकत्वाध्यवसाय है। अत व्यवहारी पुरुष विशेष का प्रत्यक्ष होने पर भी शब्द और उसके अर्थ विकल्प्य का स्मरण करता है, क्योंकि उसकी उसमें प्रवृत्ति देखी जाती है।

जैन—उक्त कथन भी सम्यक् नही है, क्योकि यह कह आये है कि किसी भी प्रमाण से दृश्य और विकल्प्य का एकत्वाध्यवसाय असम्भव है। अत प्रत्यक्ष को स्वत ही निश्चयात्मक मानना चाहिए, शब्द और जाति आदि की योजना से नही। इन्द्रियज प्रत्यक्ष को निश्चयात्मक मान लेने पर बौद्ध ने जो मानस-प्रत्यक्ष माना है उसकी भी आवश्यकता नही रहती। इन्द्रिय प्रत्यक्ष से ही उसका कार्य भी हो जाता है। दूसरी बात यह है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के विषय में शब्द सस्कार के न होने पर उसका विकल्प और शब्द के साथ सयोजन कैसे किया जा सकता है, जिससे सामान्य अभिलाप्य (शब्द प्रतिपाद्य) हो। क्योकि प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत स्वलक्षण ही अन्य से व्यावृत्त होकर जब साधारण रूप से प्रतिभासमान होता है तो वह सामान्य कहा जाता है और उसमे विकल्प और शब्द की योजना होने से उसे अभिलाप्य मानते है। अर्थात् सामान्य के द्वारा स्वलक्षण भी अभिलाप्य माना जाता है, सामान्य और स्वलक्षण में भेद नही है। शायद कहा जाये कि ग्राहक के भेद से सामान्य और स्वलक्षण में भेद है, किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नही है। जैसे एक वृक्ष को एक साथ दो पुरुष दूर से और निकट से देखते हैं, दूर से देखने वाले पुरुष को वृक्ष अस्पष्ट दिखाई देता है और समीप से देखने वाले को स्पष्ट दिखाई देता है, किन्तु इससे वृक्ष में कोई स्वभाव भेद नही आता, वह तो एक ही है। उसी तरह ग्राहक प्रत्यक्ष निर्विकल्पक है

और स्मृति सविकल्पक है, इसलिए दोनों के प्रतिभास में भेद होने पर भी दोनों के विषय में कोई भेद नहीं है। क्योंकि स्वलक्षण को बौद्धों ने एक स्वभाव वाला ही माना है। अतः वस्तु को कथञ्चिद् शब्द के द्वारा वक्तव्यता सिद्ध होती है। यदि कहोगे कि रूपादि स्वलक्षण में शब्द का अभाव होने से वह अवाच्य ही है तो निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के विषयभूत स्वलक्षण रूप अर्थ की उपलब्धि न होने से वह अज्ञेय हो जायेगा। यदि उसे ज्ञेय मानते हो तो अभिलाप्य भी मानना होगा। अत. अवाच्यतैकान्त मानने पर 'अवाच्य' कहना भी नही बन सकता।

६. अस्तित्वधर्म नास्तित्व का अविनाभावी

[1]अस्तित्व ही वस्तु का स्वरूप है, नास्तित्व नही। ऐसा मानने वाले अद्वैत-वादो को लक्ष्य करके आचार्य समन्तभद्र कहते हैं—

अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाविना भाव्येकधर्मिणी।
विशेषणत्वात्साधर्म्यं यथा भेदविवक्षया ॥[2]

एक धर्मी जीवादि मे अस्तित्व प्रतिषेध्य नास्तित्व के साथ अविनाभावी है, क्योंकि वह विशेषण है। जैसे भेद विवक्षा से हेतु में साधर्म्य वैधर्म्य के साथ अविनाभावी है, जिसे सभी हेतुवादी मानते हैं।

शङ्का—उक्त दृष्टान्त अयुक्त है, क्योंकि सभी हेतुओं में वह घटित नही होता, जैसे सभी को नित्य या अनित्य सिद्ध करने वाले हेतु में साधर्म्य वैधर्म्य का अविनाभावी नही है।

समाधान—केवलान्वयी हेतु मे भी साधर्म्य और वैधर्म्य—दोनो रहते है। जैसे जीव परिणामी है, या शब्दादि अपरिणामी नही हैं, अथवा समस्त चेतन या अचेतन अमुक रूप हैं या अमुक रूप नही हैं—ऐसी प्रतिज्ञा करके प्रमेय होने से सत होने से, या वस्तु होने से, या अर्थ क्रियाकारी होने से इत्यादि हेतुओ का प्रयोग करने पर अन्वय की तरह व्यतिरेक भी पाया जाता है। यथा—परिणामी है, प्रमेय होने से। जो-जो प्रमेय होता है, वह-वह परिणामी होता है, जैसे घट। जो परिणामी नही होता, वह प्रमेय भी नही होता, जैसे आकाश का फूल।

---

१ अष्टसहस्री, पृष्ठ १४२।

२. आप्तमीमांसा, १७।

बौद्ध—तब तो आकाश के फूल को भी प्रमेय (प्रमाण का विषय) मानना होगा।

जैन—जैसे बौद्ध मत में स्वलक्षण के अनिर्देश्य होने पर अनिर्देश्य शब्द से उसका निर्देश करने में कोई विरोध नही माना जाता। तथा प्रत्यक्ष के कल्पनापोढ होने पर भी 'कल्पनापोढ' शब्द की कल्पना करने में कोई विरोध नही माना जाता। क्योंकि, यदि विरोध माना जाये तो स्वलक्षण को अनिर्देश्य और प्रत्यक्ष को कल्पनापोढ भी नही कहा जा सकेगा। उसी तरह आकाश-पुष्प वगैरह असम्भव वस्तुएँ अप्रमेय हैं, ऐसा व्यवहार करने पर भी उनके अप्रमेय होने मे कोई विरोध नही आता। क्योकि आकाश-पुष्प को जानने वाले प्रमाण का अभाव है। फिर भी यदि आकाश-पुष्प वगैरह को प्रमेय माना जाता है तो प्रमेयाभाव भी प्रमेय हो जायेगा। और ऐसा होने पर प्रमेय और प्रमेयाभाव की व्यवस्था कैसे बन सकेगी ?

शङ्का—[1]आकाश पुष्प वगैरह प्रमेय है, क्योकि प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा जाने जाते हैं।

समाधान—नही, क्योकि आपका हेतु असिद्ध है। आकाश-पुष्प आदि प्रत्यक्ष से नही जाने जाते, क्योकि वे प्रत्यक्ष मे अपना आकार अर्पित करने मे असमर्थ हैं। और न अनुमान से ही जाने जाते है, क्योकि उनका न तो किसी स्वभाव हेतु के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है और न कार्य हेतु के साथ अविनाभाव है। यदि आकाश-पुष्प आदि का किसी स्वभाव हेतु के साथ अविनाभाव सम्बन्ध माना जायेगा तो आकाश पुष्पादि नि स्वभाव नही होगे तथा किसी कार्य हेतु के साथ उनका अविनाभाव सम्बन्ध मानने पर अर्थक्रियाकारी होने से सत् मानना होगा, क्योंकि जिसका कोई कार्य या स्वभाव होता है, वह सत् कहा जाता है। अत आकाश-पुष्प वगैरह के प्रमेय होने की बात गलत है।

बौद्ध—आकाश आदि स्वलक्षण को छोडकर आकाश पुष्पादि का अभाव नही देखा जाता। और आकाश पुष्पादि के अभाव का अभाव होने पर प्रमेयपना है ही।

जैन—स्वलक्षण आकाशादि ही आकाश-पुष्प का अभाव रूप नही है। विधि और निषेध में सर्वथा एकरूपता सम्भव नही है।

---

१ अष्टसहस्री, पृष्ठ १४३।

बौद्ध—पुष्प रहित आकाश ही आकाश मे पुष्प का अभाव है, सींग रहित खरगोश वगैरह ही खरगोश वगैरह मे सीग का अभाव है। इस प्रकार आकाश और खरगोश वगैरह की विधि तथा पुष्प और सीग का निषेध—इन दोनों का विषय एक ही है। अतः इन दोनों में एकरूपता सम्भव है।

जैन—नहीं, आकाश और खरगोश वगैरह के भाव और अभाव रूप स्वभाव में भेद है। आकाश की अपेक्षा वह भाव स्वभाव है और पुष्प की अपेक्षा अभाव स्वभाव है।

बौद्ध—सकेत विशेष की अपेक्षा से शब्द और विकल्प के भेद से (अर्थात् आकाश शब्द से यह कहना चाहिए और पुष्प शब्द से यह कहना चाहिए) एक वस्तु मे विधि और निषेध सम्भव हैं।

जैन—एक वस्तु में विधि और निषेध रूप दो स्वभाव होते हैं, उन्ही के कारण सकेत विशेष सम्भव है। यदि वस्तु में स्वभाव-भेद न हो तो सकेत-भेद सम्भव नही है और सकेत-भेद के अभाव मे बौद्धाभिमत शब्द-भेद और विकल्प-भेद भी सम्भव नही है।

बौद्ध—जो इन्द्र नही है, उसमे भी व्यवहारीजनो के सकेत विशेष से इन्द्र शब्द और इन्द्र विकल्प देखा जाता है। अत सकेत विशेष का कारण वस्तु-स्वभाव भेद नही है, जिससे वस्तु मे स्वभाव भेद न होने पर सकेत विशेष न हो और सकेत विशेष के न होने से शब्द और विकल्प भेद न हो। आकाश है, आकाश पुष्प नही है—इस प्रकार का शब्द और विकल्प भेद अनादि वासनावश होता ही है।

जैन—उक्त वादी को वस्तु-स्वभाव का अनुभव नही है। शब्द मे सभी अर्थों को कहने की विचित्र शक्ति है, और सभी पदार्थों में सभी शब्दो के द्वारा कहे जाने की नाना शक्तियाँ है। गौणता और प्रधानता से शब्द व्यवहार होता है। किसी पदार्थ में, जो इन्द्र स्वभाव नही है, फिर भी इन्द्र शब्द के द्वारा कहे जाने की शक्ति के होने से व्यवहारी जनो के सकेतवश इन्द्र शब्द और इन्द्र विकल्प होता है, अत सकेत विशेष का कारण वस्तु का स्वभाव-भेद ही है। वस्तु में स्वभाव-भेद न होने पर सकेत विशेष नही हो सकता। और उसके अभाव मे प्रत्यय विशेष नही हो सकता। यदि वस्तु में स्वभाव-भेद से होने वाले सकेत विशेष के बिना प्रत्यय विशेष हो सकता तो आकाश-पुष्प की तरह आकाश में भी 'नास्ति' इस प्रकार का प्रत्यय क्यो नही होता ? या आकाश की तरह आकाश-पुष्प में भी

'अस्ति' प्रत्यय क्यों नही होता ? या उन दोनो मे से किसी एक में भी दोनों प्रत्यय क्यो नही होते ? क्योंकि सकेत विशेष के लिए वस्तु-स्वभाव भेद की तो अपेक्षा ही नही है। किन्तु विधि और निषेध रूप सुनिश्चित प्रत्यय विशेष बिना किसी बाधा के होते हैं। अत एक वस्तु के जितने पररूप हैं, उन पररूपो से निवृत्ति रूप उतने ही स्वभाव-भेद उस वस्तु में प्रति समय मानना चाहिए। इसलिए स्वलक्षण रूप आकाश ही अन्यापोह (आकाश-पुष्प का अभाव) नही है और इसलिए आकाश-पुष्प वगैरह प्रमेय नही है।

बौद्ध—[1]इतर व्यावृत्ति या अन्यापोह तो निस्स्वभाव होने से असत्य रूप है।

जैन—बौद्ध का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष तो 'न हुए' के समान है और जो सविकल्पक ज्ञान है वह स्वलक्षण रूप वस्तु को विषय नही करता, उसका विषय अन्यापोह है, और अन्यापोह उसके मत से असत्य है, तब बौद्ध 'यही वस्तु तत्त्व है और इसी प्रकार है' यह कैसे तो स्वय जानता है और कैसे दूसरो को समझाता है, यह बडा आश्चर्य है।

अत पदार्थ विधि और निषेध के विषयभूत स्वभाव भेदो को धारण करता हुआ प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण के द्वारा जाना जाने से प्रमेय है तथा आकाश-पुष्प वगैरह अप्रमेय है, इसलिए प्रमेयत्व आदि हेतुओ में व्यतिरेक रहता ही है। अत सब हेतुओ मे साधर्म्य वैधर्म्य का अविनाभावी है, यह उदाहरण प्रसिद्ध होने से ऊपर जो अनुमान दिया है कि एक धर्मी जीवादि मे अस्तित्व धर्म नास्तित्व का अविनाभावी है, विशेषण होने से वह निर्दोष है।

७. नास्तित्वधर्म अस्तित्व का अविनाभावी

जीवादि में अस्तित्व, नास्तित्व का अविनाभावी भले ही हो, किन्तु नास्तित्व, अस्तित्व का अविनाभावी कैसे है ? आकाश-पुष्प आदि मे नास्तित्व के होते हुए भी अस्तित्व असम्भव है। ऐसी आशङ्का का परिहार करने के लिए आचार्य समन्तभद्र आगे कहते है—

नास्तित्व प्रतिषेध्येनाविना भावऽेकधर्मिणि।
विशेषणत्वाद्वैधर्म्यं यथाऽभेदविवक्षया ॥[2]

१ अष्टसहस्री, पृष्ठ १४५।
२ आप्तमीमासा, १८।

जो जो विशेषण होता है वह एक वस्तु में अपने प्रतिपक्षी धर्म का अविना-भावी होता है। जैसे अनुमान में वैधर्म्य, साधर्म्य के साथ अविनाभावी है। नास्तित्व भी विशेषण है, अतः वह अस्तित्व के साथ अविनाभावी है। इस अनुमान से नास्तित्व भी अस्तित्व का अविनाभावी सिद्ध होता है, क्योंकि साध्य अस्तित्व के सद्भाव में ही नास्तित्व विशेषण रूप हेतु सद्भाव का निश्चय है। यदि अस्तित्व के अभाव में भी नास्तित्व विशेषण रहेगा तो व्यवहार के सकर का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। जैसे ऊँटपना ऊँट में रहता है, वैसे ही दही मे भी उसका सद्भाव मानना होगा। तथा दहीपना जैसे दही में रहता है, वैसे ही उसे ऊँट में भी मानना होगा। किसी से 'दही खाओ' ऐसा कहने पर वह ऊँट की ओर दौडेगा, या फिर ऊँट की तरह दही की ओर भी नही दौडेगा, क्योकि किसी में भी दहीपने या ऊँट-पने का अभाव नही है। इस तरह एक की ओर प्रवृत्ति और दूसरे से निवृत्ति रूप जो व्यवहार है वह गडबडा जायेगा। क्योकि सभी वस्तुएँ सब रूप से सत् हैं, एक का दूसरे में अभाव नही है।

यदि कहोगे कि दही मे स्वरूप से दहीपना है, ऊँट रूप से नही, तथा ऊँट मे स्वरूप से ऊँटपना है, दहीरूप से नही, अत प्रवृत्ति आदि के व्यवहार में सकर दोष का प्रसङ्ग नही आता तो यह सिद्ध होता है कि दहीपना प्रतिषेध्य अदहीपने का अविनाभावी है और ऊँटपना प्रतिषेध्य 'न ऊँटपने' का अविनाभावी है। इसी तरह सभी विशेषण अपने प्रतिषेध्य के अविनाभावी होते हैं। इस तरह 'नास्तित्व अस्तित्व से अविनाभावी है, विशेषण होने से' इस हेतु की अपने साध्य के साथ अन्यथानुपपत्ति सिद्ध है, क्योकि विपक्ष मे बाधक का सद्भाव है।

८. शब्दगोचर-विशेष्य विधि-प्रतिषेधात्मक

किन्ही का कहना है कि अस्तित्व और नास्तित्व केवल विशेषण ही हैं, विशेष्य नही हैं, इसलिये वे वास्तविक साध्य धर्म और साधन धर्म के आधार नही हो सकते हैं। और ऐसी स्थिति मे आपने अस्तित्व को नास्तित्व का अविना-भावी और नास्तित्व को अस्तित्व का अविनाभावी सिद्ध करने के लिए जो दो अनुमान दिए हैं, वे वास्तविक नही हैं।

दूसरों का कहना है कि अस्तित्व और नास्तित्व सर्वथा शब्दवाच्य नहीं हैं, क्योंकि वस्तुरूप अवाच्य है (शब्द के द्वारा उसे नही कहा जा सकता है)। अन्य

---

१. अष्टसहस्री, पृष्ठ १४६।

वादियों का कहना है कि अस्तित्व और नास्तित्व वस्तु से अत्यन्त भिन्न हैं, जैसे घट और पट अत्यन्त भिन्न हैं। किन्ही का कहना है कि वस्तु अस्तित्व-नास्तित्व रूप नही है, क्योकि ऐसा मानने पर धर्म और धर्मी के सकर का प्रसङ्ग आता है। इन सब वादियों के समाधान के लिये आचार्य समन्तभद्र कहते हैं—

विधेयप्रतिषेध्यात्मा विशेष्यः शब्दगोचर[1]।
साध्यधर्मो यथा हेतुरहेतुश्चाप्यपेक्षया ॥

[2]विधेय अर्थात् अस्तित्व, प्रतिषेध्य अर्थात् नास्तित्व। सभी जीवादि अर्थ अस्तित्व-नास्तित्व रूप हैं, विशेष्य होने से। जैसे उत्पत्तिमत्व हेतु अनित्यत्वरूप साध्य की अपेक्षा से हेतु है और नित्यत्व रूप साध्य की अपेक्षा से अहेतु है, क्योकि उत्पत्तिमान् हेतु से अनित्यत्व की सिद्धि होती है, नित्यत्व की सिद्धि नही होती। इस अनुमान से जीवादि अर्थ अस्तित्व-नास्तित्व रूप सिद्ध होते हैं। शायद कहा जाये कि जीवादि अर्थ विशेष्य नही हैं, इसलिए 'विशेष्य होने से' यह हेतु असिद्ध है। किन्तु ऐसा कहना ठीक नही है, क्योकि जीवादि अर्थ विशेष्य हैं शब्दगोचर होने से, हेतु की तरह। इस अनुमान से विशेष्यत्व हेतु की सिद्धि होती है। यह सक्षेप मे उक्त कारिका का अर्थ है।

बौद्ध—निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में स्वलक्षण रूप वस्तु का ही प्रतिभास होता है, अस्तित्व आदि विशेषणो का नही, स्वलक्षण तो समस्त विकल्पो से रहित है। सविकल्पक ज्ञान में ही अस्तित्व आदि व्यवहार प्रसिद्ध है।

जैन—नही। अस्तित्व आदि अनेक विकल्प रूप सांश वस्तु की ही प्रतीति होती है। कोई वस्तु अस्तित्व आदि किसी धर्म से विशिष्ट यदि ग्रहण की जाती है तो विशेषण, विशेष्य और उनके सम्बन्ध के ग्रहण पूर्वक ही ग्रहण की जाती है, अन्यथा नही, ऐसा बौद्ध का अभिप्राय होने पर भी वस्तु के विधि और प्रतिषेध रूप प्रत्येक स्वभाव का दर्शन अवश्य होता है। 'वस्तु का ही दर्शन होता है उसके विधि-निषेध रूप विशेषणो का दर्शन नहीं होता', ऐसा नही कह सकते। यदि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में अस्तित्व-नास्तित्व रूप स्वभाव से शून्य स्वलक्षण का दर्शन होता है तो उसके पश्चात् होने वाले सविकल्पक ज्ञान के द्वारा भी अस्तित्व और नास्तित्व का निश्चय नही हो सकता, क्योकि बौद्ध ऐसा मानते हैं कि निर्विकल्पक में जिस वस्तु का दर्शन होता है, उसके पश्चात् होने वाला सविकल्पक

१. आप्तमीमांसा, १९।
२ अष्टसहस्री, पृष्ठ १४७।

ज्ञान भी उसी का ग्रहण करता है, अन्य का नही । इसलिये विधि और प्रतिषेध स्वलक्षण को साथ ही सिद्ध करते हैं । यदि उसमे सर्वथा भेद का अभाव हो तो 'यह सत् है' 'यह असत् है'—इस प्रकार से दर्शन के अभाव का अनुषंग आता है । और उस अवस्था में 'इसे मैं प्राप्त करता हूँ' 'इसे प्राप्त नही करता'—इस प्रकार के विकल्प की उत्पत्ति नही हो सकती । इसलिये सामान्य-विशेषात्मक वस्तु ही स्वलक्षण है । समस्त विकल्पों से रहित सामान्य रूप अथवा विशेष रूप परस्पर निरपेक्ष उभय रूप वस्तु स्वलक्षण नही है, क्योंकि वस्तु न केवल सामान्य रूप है, न केवल विशेष रूप है और न परस्पर निरपेक्ष सामान्य विशेष रूप है, किन्तु जात्यन्तर सामान्य-विशेषात्मक ही वस्तु का स्वरूप है । जो उस उस जात्यन्तर रूप से लक्षित है, वही स्वलक्षण है । उसमें कोई बाधक नही है ।

शङ्का[1]—विधेय (अस्तित्व) और प्रतिषेध्य (नास्तित्व) का आधारभूत धर्मी कौन है ? और उन दोनो के स थ उसका क्या सम्बन्ध है, जिससे जीवादि विधेय-प्रतिषेध्यात्मा या अस्तित्व-नास्तित्व रूप हैं, इस प्रकार का विशेषण-विशेष्यभाव बन सके ?

समाधान—सामान्य धर्मी अस्तित्व और नास्तित्व का आधार है और उनका उससे तादात्म्य सम्बन्ध है, सम्बन्धान्तर मानने पर अनवस्था दोष आता है। अत यह कहना कि 'जाति आदि से विशिष्ट द्रव्य का प्रत्यक्ष से ग्रहण नही होता' ठीक नही है, प्रत्युत जाति आदि के अभाव में ही प्रत्यक्ष से ग्रहण सम्भव नही है । अत प्रत्यक्ष पहले विशेषण को ग्रहण करके फिर विशेष्य को ग्रहण करता है, उसके पश्चात् विशेषण और विशेष्य के सम्बन्ध समवाय को ग्रहण करता है, फिर विशेषण-विशेष्य व्यवहार मूलक लोक स्थिति को ग्रहण करता है, फिर उन सबका सकलन करके 'यह वस्तु सत् है' ऐसा ग्रहण करता है, बौद्ध के द्वारा मान्य यह प्रतीति-क्रम ही दुर्घट है । अपने अपने क्षयोपशम के अनुसार प्रत्यक्ष और परोक्षज्ञान में सामान्य विशेष रूप जात्यन्तर वस्तु का ही बिना किसी बाधा के अनुभव होता है, उससे विपरीत वस्तु की कभी भी प्रतीति नही होती । अत निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में, सविकल्पक में और शब्द प्रमाण मे स्पष्ट और अस्पष्ट रूप से कथञ्चित् प्रतिभास-भेद होने पर भी विषय-भेद नही है, जैसे एक वृक्ष को निकट और दूर से देखने वाले दो मनुष्यो के दर्शन में विषय-भेद नही है । यदि प्रतिभास में भेद होने पर विषय-भेद मानते हो तो एक ही विषय को जानने वाले योगी और सामान्य जन के प्रत्यक्ष में भी विषय-भेद का प्रसङ्ग आता है ।

---

1. अष्टसहस्री, पृष्ठ १४८ ।

इस तरह सामान्य-विशेषात्मक वस्तु को प्रत्यक्ष का विषय बतलाने से दृष्टान्त के रूप में उपस्थित किये गये उत्पत्तिमत्व आदि हेतु को भी प्रत्यक्ष का विषय कह दिया है, जिसका खुलासा इस प्रकार है—धूम हेतु अग्नि की अपेक्षा हेतु है और जल की अपेक्षा हेतु नही है, क्योंकि धूम को देखकर अग्नि का अनुमान किया जाता है, पानी का नही। इसी तरह उत्पत्तिमत्व विनश्वरत्व की अपेक्षा हेतु है और अविनश्वरत्व की अपेक्षा अहेतु है, क्योंकि जो उत्पन्न होता है वह नष्ट भी होता है। जो अग्नि के साध्य होने पर धूम के साधनत्व विशेषण को और पानी के साध्य होने पर उसके असाधनत्व विशेषण को नही जानता, वह विशेष्य धूम को भी नही जानता। इसी प्रकार जो विनश्वरत्व साध्य होने पर उत्पत्तिमत्व के साधनत्व विशेषण को और अविनश्वरत्व साध्य होने पर उसके असाधनत्व विशेषण को नही जानता, वह विशेष्य उत्पत्तिमत्व को भी नही जानता और ऐसी स्थिति मे वह अग्नि तथा विनश्वरत्व रूप साध्य विशेष्य को भी नही जान सकता, किन्तु जानता है। अत वह अवश्य ही उनके हेतुओ को भी जानता है, क्योकि एक ही हेतु को अपने साध्य की अपेक्षा साधन और असाध्य की अपेक्षा असाधन रूप से जानने मे कोई विरोध नही है। हाँ, साध्य और असाध्य की अपेक्षा न करने पर एक ही हेतु को साधन और असाधन मानने मे विरोध आता है, क्योंकि एक ही साध्य मे एक ही हेतु की साधनता और असाधनता नही देखी जाती। यह उदाहरण वादी और प्रतिवादी—दोनो को इष्ट है। अत जैसे उत्पत्तिमत्व को अपने साध्य की अपेक्षा हेतु और असाध्य की अपेक्षा अहेतु माना जाता है, वैसे ही जो कोई भी वस्तु है वह सब विधि-निषेधात्मक या अस्तित्व-नास्तित्व रूप है। चूँकि जीवादि वस्तु है, अत. वह भी विधि-निषेधात्मक या अस्तित्व-नास्तित्वात्मक है।

६. सर्वथा अर्थक्रिया का निषेध

एव विधिनिषेधाभ्यामनवस्थितमर्थकृत्।
नेति चेन्न यथा कार्यं बहिरन्तरुपाधिभि: ॥[1]

[2]इस प्रकार 'जीवादि वस्तु सत् ही है' या 'असत् ही है' इस प्रकार सर्वथा विधि और सर्वथा निषेध से अनवस्थित अर्थात् अनेकान्तात्मक वस्तु ही कार्यकारी

---

१ आप्तमीमासा, २१।
२ अष्टसहस्री, पृष्ठ १४९-१५०।

है। यदि वस्तु को ऐसा नहीं माना जायेगा तो जैसे सहकारी और उपादान कारणों से रहित कार्य नहीं बन सकता, वैसे ही समस्त जीवादि वस्तु के सर्वथा विधि या सर्वथा निषेध रूप मानने पर कार्यकारी नहीं हो सकती। क्योंकि भावैकान्त और अभावैकान्त में कार्य का सर्वथा निषेध कर आये हैं।

शङ्का—यदि वस्तु को केवल सत् या केवल सर्वथा असत् माना जाये तो वह अर्थक्रियाकारी क्यों नही है ?

समाधान—अनेकान्तवाद मे सदसदात्मक वस्तु ही अर्थक्रियाकारी है। जैसे सुवर्णत्व रूप द्रव्य की दृष्टि से सत् और केयूर आदि पर्याय की दृष्टि से असत् सुवर्ण केयूर रूप से परिणमन करने की शक्ति रूप विशिष्ट अन्तरङ्ग सामग्री और सुवर्णकार के व्यापार रूप बाह्य सामग्री के मिलने पर केयूर आदि रूप से उत्पन्न होता है, अत सदसदात्मक वस्तु ही कार्यकारी है। उसी तरह जीवादि वस्तु को भी जानना चाहिये। यदि वस्तु को सर्वथा सत् माना जायेगा तो सत् की पुन उत्पत्ति सम्भव नही है। यदि सत् की उत्पत्ति के लिये भी कारणो की अपेक्षा आवश्यक है तो उसका कभी विराम नही होगा। और जो अनुत्पन्न है उसकी स्थिति और विनाश नही हो सकता, क्योंकि वह आकाश-पुष्प की तरह सर्वथा असत् है। इसी तरह सर्वथा असत् की भी उत्पत्ति आदि नही हो सकती। अत सदेकान्त और असदेकान्त मे अर्थक्रिया नहीं होती।

बौद्ध—यदि अपनी उत्पत्ति से पहले अविद्यमान कार्य की उत्पत्ति कारण सामग्री से मानी जाये तो क्या दोष है ?

जैन—कारण[1] सामग्री का निरन्वय विनाश मानने पर विना कारण के काय की उत्पत्ति नही हो सकती। क्योंकि स्थिति की तरह क्रिया रूप होने से उत्पत्ति और विनाश निराधार नही हो सकते।

बौद्ध—उत्पत्ति आदि क्रिया नही है, क्योकि क्षणिक मे उत्पत्ति आदि असम्भव हैं, अत क्रिया रूप होने से हेतु असिद्ध है।

जैन—यह बात तो प्रत्यक्ष विरुद्ध है, क्योकि इन्द्रियज्ञान में उत्पत्ति आदि वाली वस्तु की प्रतीति होती है। अत. उत्पाद, विनाश और स्थिति से रहित सत्ता मात्र के मानने में प्रत्यक्ष से बाधा आती है। यदि कहोगे कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में इनका प्रतिभास नहीं होता तो उत्पत्ति आदि से सहित सविकल्पक ज्ञान भी नही होना चाहिये। क्योंकि दण्ड और पुरुष के सम्बन्ध का प्रत्यक्ष न होने पर 'दण्डी' विकल्प नहीं होता।

---

१. अष्टसहस्री, पृष्ठ १५१।

बौद्ध—यद्यपि निर्विकल्पक बुद्धि में उत्पाद आदि का प्रत्यक्ष नही होता, फिर भी उस प्रकार की पूर्वकालीन वासना के कारण उत्पाद आदि से विशिष्ट विकल्प की प्रतीति होती है।

जैन—तब तो नील, सुख वगैरह का प्रत्यक्ष नही होने पर भी उनके विकल्प ज्ञान का प्रसङ्ग आता है और ऐसी स्थिति मे उसके आधार पर उनकी सत्ता सिद्ध नही की जा सकती है।

ज्ञानाद्वैत मानने पर भी ज्ञानाद्वैत के अभाव मे भी वासना के बल से ही ज्ञान के स्वरूप का प्रतिभास होने से स्वरूप की स्वत गति कैसे सिद्ध होगी ? यदि अद्वैत वासना के बिना सत् ज्ञान स्वरूप की स्वत गति मानते हो तो उत्पत्ति आदि क्रिया विशेषो का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष मे दर्शन और उसी से विकल्प की उत्पत्ति माननी चाहिये। अत उत्पत्ति आदि क्रिया असिद्ध नही है। और इसलिये सर्वथा असत् की उत्पत्ति नही हो सकती। अत यह कहना ठीक ही है कि जो सर्वथा सत् या सर्वथा असत् है वह उत्पन्न नही हो सकता, जैसे आकाश और वन्ध्या का पुत्र। सर्वथा सत् आकाश उत्पन्न नही होता और न सर्वथा असत् वन्ध्या पुत्र ही उत्पन्न होता है।

शङ्का—यदि आकाश उत्पन्न नही होता तो उसकी स्थिति कैसे हो सकती है ? क्योकि आपने पहले कहा था कि जो उत्पन्न नही होता, उसकी स्थिति और विनाश नही होता।

जैन—हम आकाश का भी सर्वथा अनुत्पाद नही मानते। यहाँ केवल द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा और चूंकि अन्य मतावलम्बी आकाश को सर्वथा अनुत्पन्न मानते है, अत उनकी मान्यता वश आकाश का उदाहरण दिया है। इसलिये पूर्वापर विरोध नही है। पहले सर्वथा उत्पन्न न होने वाली वस्तु की स्थिति का निषेध किया है। उसका आशय यह है कि जो द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा उत्पन्न नही होता उसी की स्थिति बनती है। अत जो अर्थक्रियाकारी है वह न सवथा सत् होता है और न सर्वथा असत्। क्योकि एकान्तवाद मे सर्वथा अर्थक्रिया का विरोध है।

१०. अद्वैतैकान्त विचार

अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुध्यते।
कारकाणा क्रियायाश्च नैक स्वस्मात् प्रजायते ॥[1]

१ आप्तमीमासा, २४।

[1]अद्वैतैकान्त के पक्ष में भी प्रत्यक्ष आदि के द्वारा देखा गया कारकों का और क्रिया का भेद नहीं बनता। क्योंकि एक ब्रह्म अपने से ही उत्पन्न नहीं हो सकता।

अद्वैतवादी—अद्वैत में भी कारक भेद बनने में प्रत्यक्ष आदि के द्वारा कोई विरोध नहीं आता। एक ही वृक्ष में एक साथ अथवा क्रम से कर्त्ता आदि अनेक कारकों की प्रतीति होती है। उसी तरह एक ही वस्तु में नाना क्रियाएँ भी बन सकती हैं। एक ही देवदत्त में देश आदि की अपेक्षा से गमन और अगमन अथवा स्थिति और शयन का एक साथ निश्चय होता है। उसी तरह एक परब्रह्म में भी समस्त क्रिया और कारकों का भेद होने में कोई विरोध नही है। जैसे नाना प्रतिभास होने पर भी चित्रज्ञान के एक होने में कोई रुकावट नही है उसी तरह प्रतिभास-भेद के होने पर भी परब्रह्म के एक होने में कोई रुकावट नही है।

जैन—अद्वैतैकान्त में क्रिया-कारक भेद अजन्मा है या जन्मवाला ? अजन्मा तो हो नही सकता, क्योंकि वह अनित्य है। जो अजन्मा होता है वह अनित्य नही होता, जैसे आत्मा। किन्तु क्रिया-कारक भेद अनित्य है, अत वह अजन्मा नही हो सकता। यदि वह जन्मवाला है तो उसकी उत्पत्ति किससे होती है ? यदि परब्रह्म से ही होती है तो अद्वैत की सिद्धि कैसे हुई ? कारण और कार्य के भेद से द्वैत ही सिद्ध हुआ। यदि कहते हो कि क्रिया वगैरह कार्य ब्रह्म से अभिन्न है, अत अद्वैत ही है तो अपने से ही अपनी उत्पत्ति कैसे हो सकती है तथा कार्य से अभिन्न ब्रह्म अकार्य कैसे हो सकता है ? और ऐसी स्थिति में वह नित्य नही हो सकता। यदि कहोगे कि क्रिया आदि कारक-भेद पर से उत्पन्न होता है तो द्वैत की सिद्धि होती है, क्योंकि आप क्रिया-कारक-भेद का कारण परब्रह्म से भिन्न मानते है।

अद्वैतवादी—वह पर अनादि अविद्या रूप होने से मिथ्या है, अत. वह दूसरा नही है और इसलिये द्वैत की सिद्धि नही होती।

जैन—जो मिथ्या है वह कारण कैसे हो सकता है ?

अद्वैतवादी—उससे उत्पन्न होने वाला कार्य भी मिथ्या है, अत कोई दोष नही है।

---

१ अष्टसहस्री, पृष्ठ १५७।

जैन—तो क्या गधे के सींग से घोड़े के सींग का जन्म होता है ? यदि नहीं होता तो अविद्या रूप कारण से अविद्या रूप कार्य की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?

अद्वैतवादी—इन्द्रजाल में मायामयी अग्नि से मायामयी धूम की उत्पत्ति देखी जाती है, अत कोई दोष नही है।

जैन—[1]इन्द्रजाल मे भी अग्नि और धूम सर्वथा मायामयी नहीं होते। न तो उनका प्रतिभास ही माया रूप है, क्योकि वह स्वसंवेदन से सिद्ध है। और न बाह्य सद्रूप ही माया स्वभाव है, क्योकि वह व्यभिचारी नही है।

अद्वैतवादी—उस सद्रूप के अग्नि और धूम रूप से जो विशेष आकार हैं, वे माया रूप है।

जैन—उनसे रहित वस्तु से भिन्न माया सम्भव नही है, अत क्रिया-कारक-भेद प्रपञ्च से भिन्न परब्रह्म से पृथक् जब अविद्या नही है, तब अविद्या रूप ब्रह्म से अविद्या रूप कार्य की उत्पत्ति होने पर अपने से अपनी ही उत्पत्ति क्यों नही हुई कहलाई ? और प्रमाण विरुद्ध होने से इस बात को सिद्ध नही किया जा सकता है।

अद्वैतवादी—क्रिया-कारक भेद न तो स्वत उत्पन्न होता है और न पर से उत्पन्न है, किन्तु उत्पन्न अवश्य होता है।

जैन—यह बात तो प्रत्यक्ष विरुद्ध होने के साथ ही साथ किसी को इष्ट भी नही हो सकती। स्वत और परत उत्पन्न न होने वाली कोई वस्तु उत्पन्न होती हुई नही देखी गई। अत जो बात प्रत्यक्ष विरुद्ध है, वह ठीक नही है। और इसलिए क्रिया-कारक के भेद को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष आदि के द्वारा अद्वैतवाद में विरोध आता है।

अद्वैतवादी—जैसे एक स्वप्नज्ञान मे हाथी-घोडा आदि अनेक वस्तुओ का प्रतिभास होता है, वैसे ही एक परब्रह्म मे भी घट-पट आदि का प्रतिभास होने पर भी कोई विरोध नही आता।

जैन–स्वप्नज्ञान में भी स्ववासना से उत्पन्न हुआ क्रिया विशेष का ज्ञान भिन्न है और कारक विशेष का ज्ञान भिन्न है, एक ही नही है। यदि उनको एक माना जायेगा तो उनका हेतु जो वासना-भेद माना जाता है, उसके अभाव

१ अष्टसहस्री, पृष्ठ १५८।

का प्रसङ्ग आता है। जाग्रत दशा की तरह स्वप्नादि दशा में भी अनेक शक्ति वाले पुरुष को क्रिया-कारक विशेषों के नाना प्रतिभास होते हैं। अनेकान्तवादी जैन एक रूप आत्मा आकाश वगैरह को भी अनेक क्रिया-कारक विशेषों के ज्ञान का आलम्बन मानते हैं। अत. अद्वैतवाद प्रत्यक्ष आदि से विरुद्ध है। 'कुम्भकार दण्ड आदि के द्वारा घट को करता है', 'देवदत्त हाथ से भात खाता है' इत्यादि प्रत्यक्ष भ्रान्त नहीं हैं, जिससे वे अद्वैत के विरोधक न हो। 'सर्वत्र क्रिया-कारक आदि कथञ्चिद् भिन्न हैं, क्योंकि उनका भिन्न प्रतिभास होता है' यह अनुमान तथा 'नाना जीव हैं' यह आगम भ्रान्त नही है, अत वे भी अद्वैत का विरोध करने वाले हैं।

अद्वैतवादी—विवादग्रस्त उक्त प्रत्यक्षादि मिथ्या ही है, क्योंकि उनमें भेद का प्रतिभास होता है, जैसे स्वप्न में होने वाला प्रत्यक्ष।

जैन—उक्त अनुमान में पक्ष, हेतु और दृष्टान्त का भेद-प्रतिभास यदि मिथ्या नही है तो उसी से हेतु में व्यभिचार का दोष आता है। यदि वह मिथ्या है तो उस अनुमान से साध्य की सिद्धि नही हो सकती।

अद्वैतवादी—दूसरो के द्वारा मान्य होने के कारण पक्ष आदि के भेद का प्रतिभास मिथ्या नही है। अत कोई दोष नही है।

जैन—तो 'स्वयं को मान्य' और 'दूसरो को मान्य' इस भेद-प्रतिभास से व्यभिचार आता है। अत अद्वैतैकान्त प्रत्यक्षादि से विरुद्ध है।

[1]अद्वैतैकान्त में दूषणान्तर देते हैं—

> कर्मद्वैत फलद्वैत लोकद्वैत च नो भवेत्।
> विद्याविद्याद्वय न स्याद्बन्धमोक्षद्वय तथा॥[2]

अद्वैतैकान्त में लौकिक और वैदिक कर्म, अथवा पुण्य और पाप कर्म नहीं होगे। और उनके न होने से इस लोक और परलोक में अच्छे और बुरे फल नही होगे, क्योंकि कारण के अभाव में कार्य को उत्पत्ति नही होती। और इसलिए इहलोक और परलोक भी नहीं होगे।

अद्वैतवादी—यह सब द्वैत अनादिकालीन अविद्या के कारण ही है, अत. कोई दोष नहीं है।

---

१ अष्टसहस्री, पृष्ठ १५१।

२ आप्तमीमांसा, २५।

जैन—धर्म और अधर्म के अभाव में बन्ध और मोक्ष के द्वैत की तरह विद्या और अविद्या का द्वैत भी सम्भव नही है।

अद्वैतवादी—अनादिकालीन अविद्या के कारण ही विद्या और अविद्या का तथा बन्ध और मोक्ष का द्वैत है, वास्तव में नही है, क्योंकि आगम मे लिखा है—

'न बन्धोऽस्ति न वै मोक्ष इत्येषा परमार्थता।'[1]

'न बन्ध है और न मोक्ष है' यही परमार्थता है।

प्रतिभास मात्र परब्रह्म ही तात्त्विक है।

जैन—तब तो बौद्ध का नैरात्म्यवाद भी तात्त्विक हो जायेगा, अत नैरात्म्य की तरह परब्रह्म की कल्पना भी निष्फल है। इसलिये पुण्य-पाप, सुख-दु ख, इहलोक-परलोक, विद्या-अविद्या, बन्ध-मोक्ष—इन द्वैतो से रहित अद्वैतवाद बुद्धिशालियो के द्वारा स्वीकार करने के योग्य नही है, जैसे नैरात्म्यदर्शन। अत उसकी जिज्ञासा भी कल्याणकारिणी नही है।

११. ब्रह्माद्वैत-विचार

ब्रह्माद्वैतवादी

[2]ब्रह्माद्वैत अनुमान तथा आगम प्रमाण से सिद्ध है। उसका साधक अनुमान इस प्रकार है—जो वस्तु प्रतिभास का समानाधिकरण है, वह प्रतिभास के अन्त प्रविष्ट है, जैसे प्रतिभास का स्वरूप। और सभी प्रतिभास का समानाधिकरण है। इस हेतु से परब्रह्म की सिद्धि होती है। यह हेतु असिद्ध नही है—'सुख का प्रतिभास होता है' 'रूप का प्रतिभास होता है'—इस प्रकार सर्वत्र प्रतिभास के समानाधिकरणत्व की प्रतीति होती है। अन्यथा (प्रतिभास के समानाधिकरणत्व के अभाव में) वस्तु का सद्भाव सिद्ध नही हो सकता। जो प्रतिभासमान नही

---

१ न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधक ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥
—माण्डूक्योपनिषत्, २।३२।
न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च मोचक ।
न बन्धोस्ति न वै मुक्तिरित्येषा परमार्थता ॥
—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १।१।९३ उत्थानिका।

२ अष्टसहस्री, पृष्ठ १५९।

होता, उसका भी सद्भाव मानने पर सभी के मनोरथों की सिद्धि का प्रसङ्ग आने से गधे के सींग भी असत् नहीं हो सकेंगे।

शङ्का—प्रतिभास से भिन्न प्रतिभास्य बाह्य तथा आभ्यन्तर अर्थ भी उपचार से प्रतिभास का समानाधिकरण है, अतः आपका हेतु असिद्ध है।

समाधान—उक्त कथन भी ठीक नहो है, क्योंकि प्रतिभास्य और प्रतिभास में प्रतिभास्य-प्रतिभासभाव अनुपपन्न है।

शङ्का—चूंकि प्रतिभास हेतु है, अत अर्थ प्रतिभास्य है।

समाधान—प्रतिभास मात्र अहेतुक है, अत कोई अर्थ उसका हेतु नही हो सकता है और वह अहेतुक इसलिये है, क्योंकि वह नित्य है। यदि वह सहेतुक होता तो कभी भी उसका अभाव हो जाता।

शङ्का—प्रतिभास का आलम्बन होने से अर्थ प्रतिभास्य है।

समाधान—अर्थ प्रतिभास का आलम्बन क्यो है? यदि कहोगे कि वह प्रतिभास्य है इसलिए प्रतिभास का आलम्बन है तो परस्पराश्रय दोष आता है। क्योकि प्रतिभास का आलम्बन होने पर अर्थ प्रतिभास्य सिद्ध होता है और अर्थ का प्रतिभास्य सिद्ध होने पर वह प्रतिभास का आलम्बन सिद्ध होता है। यदि कहोगे कि प्रतिभास का आलम्बन होने के योग्य होने से अर्थ प्रतिभास्य है, तब तो प्रतिभास का स्वरूप ही प्रतिभास्य है और वही प्रतिभास का आलम्बन है, क्योकि सर्वत्र प्रतिभास का आलम्बन उसका स्वरूप ही होता है। अत अर्थ उपचार से प्रतिभास का समानाधिकरण नही है और इसलिये हमारा हेतु असिद्ध नही है और इसीलिये वह व्यभिचारी अथवा विरुद्ध भी नही है। क्योकि 'जो प्रतिभास के अन्त प्रविष्ट नहो है, ऐसी कोई भी वस्तु प्रतिभास का समानाधिकरण नहो है। अत हेतु विपक्ष में नही रहता। हमारा हेतु आश्रयासिद्ध भी नही है, क्योकि सभी कुछ परब्रह्म के आश्रय है। श्रुति के व्याख्यान में कहा है—

ब्रह्मेति ब्रह्मशब्देन कृत्स्न वस्त्वभिधीयते।
प्रकृतस्यात्मकात्स्न्यंस्य वै शब्दः स्मृतये मतः॥

'ब्रह्म' इस ब्रह्म शब्द से समस्त वस्तु कही जाती है। श्रुति वाक्य मे 'वै' शब्द का प्रयोग प्रकृत आत्मा (ब्रह्म) की सर्वत्र व्यासता बतलाने के लिये किया गया है।

---

१. अष्टसहस्री, पृष्ठ १६०।

४

अत निर्दोष हेतु से अद्वैत की सिद्धि होती ही है। उपनिषद् में भी कहा है—'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म' यह सब ब्रह्म ही है।

जैन :

ब्रह्माद्वैत का प्रतिविधान करते हुये आचार्य समन्तभद्र कहते हैं—

> हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद् द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययो ।
> हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैत वाङ्मात्रतो न किम् ॥[1]

यदि हेतु से अद्वैत की सिद्ध करते हो तो हेतु और साध्य का द्वैत सिद्ध होता है। यदि बिना हेतु के अद्वैत की सिद्धि करते हो तो वचन मात्र से द्वैत की सिद्धि क्यो नही होगी ?

अद्वैतवादी—'प्रतिभास का समानाधिकरण होने से' इस हेतु से सभी के प्रतिभास के अन्त प्रविष्ट होने से पुरुषाद्वैत की सिद्धि होने पर भी हेतु और साध्य का द्वैत नही होगा, क्योंकि हेतु और साध्य का तादात्म्य माना गया है। शायद कहा जाये कि तादात्म्य मानने पर साध्य और साधन में साध्य-साधनभाव का विरोध होगा तो ऐसा कहना भी ठीक नही है, क्योकि ऐसा होने पर 'शब्द अनित्य है सत् होने से' इस अनुमान मे सत्त्व और अनित्यत्व में भी साध्य-साधन-भाव के विरोध का अनुषग आता है। यदि कहोगे कि यहाँ कल्पना के भेद से साध्य-साधन धर्म का भेद मानते है तो प्रकृत अनुमान में भी अविद्या के द्वारा कल्पित हेतु और साध्य में साध्य-साधनभाव का विरोध कैसे आ सकता है ? दोनो में कोई विशेषता नही है।

जैन—शब्द वगैरह में सत्त्व और अनित्यत्व में हम कथञ्चित् तादात्म्य मानते हैं, सर्वथा तादात्म्य असिद्ध है। सर्वथा तादात्म्य मानने पर साध्य साधनभाव का विरोध आता है। अत हेतु से अद्वैत की सिद्धि नही होती। यदि कहोगे कि हेतु के बिना आगम मात्र से अद्वैत की सिद्धि होती है तो अद्वैत और उसके साधक आगम के द्वैत का प्रसङ्ग आता है।

अद्वैतवादी—आगम भी पुरुषाद्वैत रूप ही है, उससे भिन्न नही है जिससे द्वैत का अनुषङ्ग आ सके। कहा भी है—

> ऊर्ध्वमूलमध शाखमश्वत्थ प्राहुरव्ययम् ।
> छन्दासि तस्य पर्णानि यस्त वेत्ति स वेदवित् ॥[2]

---

१ आप्तमीमासा, २६ ।

२. श्रीमद् भगवद् गीता, १५।१ ।

जिसका ऊर्ध्व मूल है और जिसकी शाखायें नीचे हैं, ऐसे अश्वत्थ को वेदज्ञ अव्यय कहते हैं। उसके पर्व छन्द हैं। उसको जो जानता है, वह वेदवित् है।

इस प्रकार ब्रह्म और आगम—दोनों एक ही हैं, अत इनमें अद्वैतपना है।

जैन—यदि आगम ब्रह्म से भिन्न नहीं है तो ब्रह्म की तरह ब्रह्म का प्रतिपादक आगम भी असिद्ध ठहरेगा। क्योंकि जो सर्वथा असिद्ध है वह सिद्ध कैसे हो सकता है? यदि कहोगे कि आगम सिद्ध है और ब्रह्म असिद्ध है तो सिद्ध और असिद्ध में भेद का प्रसङ्ग आता है, अत जो असिद्ध है उसे हित के इच्छुक अहित से बचने वालो को नही स्वीकार करना चाहिये, जैसे शून्यैकान्त। उसी तरह ब्रह्माद्वैत भी असिद्ध है। यहाँ हेतु असिद्ध नहीं है, क्योंकि पुरुषाद्वैत अनुमान और आगम से सिद्ध नही है।

अद्वैतवादी—'प्रतिभास का समानाधिकरण होने से' इस हेतु से ब्रह्माद्वैत सिद्ध है।

जैन—उक्त हेतु विरुद्ध है, क्योंकि प्रतिभास और उसके विषय रूप से माने गये पदार्थों में कथञ्चित् भेद होने पर समानाधिकरणत्व की प्रतीति होती है, अत उक्त हेतु प्रतिभास्यो को सर्वथा प्रतिभास के अन्त प्रविष्ट सिद्ध नही करता। 'शुक्ल वस्त्र' इत्यादि मे भी गुण और द्रव्य मे सर्वथा तादात्म्य मानने पर समानाधिकरण्य नही बनता। 'प्रतिभास का स्वरूप प्रतिभासित होता है' यहाँ भी लक्ष्य और लक्षणभूत प्रतिभास और उसके स्वरूप में सर्वथा तादात्म्य नहीं है, क्योंकि [1]प्रतिभास तो साधारण और असाधारण धर्म का आधार है और उसका स्वरूप असाधारण धर्म वाला है, अत उन दोनों में कथञ्चित् भेद है। कथञ्चिद् भेद न होने पर सुवर्ण-सुवर्ण की तरह, अथवा सह्य-विन्ध्य की तरह समानाधिकरण्य नही हो सकता। अत जो प्रतिभास का समानाधिकरण है वह प्रतिभास से कथञ्चित् भिन्न है, जैसे प्रतिभास का स्वरूप। तथा सुख, नील वगैरह सभी प्रतिभास के समानाधिकरण हैं। इस प्रकार साध्य अद्वैत से विपरीत द्वैत को सिद्ध करने वाले हेतु से अद्वैत की सिद्धि नही होती। 'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म' इस आगम से भी द्वैत की ही सिद्धि होती है, क्योंकि इसके द्वारा सभी प्रसिद्ध वस्तुओ का अप्रसिद्ध ब्रह्मरूप से विधान किया गया है। अप्रसिद्ध की तरह आगम सर्वथा

१ अष्टसहस्री, पृष्ठ १६१।

प्रसिद्ध का विधान नहीं करता। ब्रह्मत्व के साधक आगम से किसी आत्म व्यक्ति में प्रसिद्ध ऐकात्म्य रूप ब्रह्मत्व का सभी आत्माओं और अनात्माओं में विधान करने से द्वैत-प्रपञ्च के आरोप का व्यवच्छेद करने पर भी व्यवच्छेद्य (ब्रह्म) और व्यवच्छेदक (आगम) का सद्भाव सिद्ध होने से अद्वैत की सिद्धि कैसे हो सकती है ?

आगम के परब्रह्म स्वरूप होने पर भी उससे अद्वैत की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि स्वभाव और स्वभाववान् में तादात्म्यैकान्त नही है। यदि कहोगे कि पुरुषाद्वैत का सवेदन ही पुरुषाद्वैत का साधन है तो वह भी ठीक नही है, क्योंकि स्वसंवेदन रूप साधन भी ब्रह्म से अभिन्न नही हैं, अभिन्न मानने पर वह उसका साधन नही हो सकता। ब्रह्म से अभिन्न को ब्रह्म का साधन मानने पर साध्य ही साधन हो जायेगा। यदि कहोगे कि 'ब्रह्म स्वत सिद्ध है' तो द्वैत भी स्वत सिद्ध क्यो नही है ?

आगे और भी कहते हैं—

अद्वैत न विना द्वैतादहेतुरिव हेतुना।
सज्ञिन. प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित् ॥[1]

जैसे हेतु के विना अहेतु नही होता, वैसे ही द्वैत के विना अद्वैत सिद्ध नही होता। इसका खुलासा इस प्रकार है—अद्वैत शब्द अपने वाच्य के विरोधी परमार्थ पद द्वैत की अपेक्षा करता है, नञ् पूर्वक अखण्ड पद होने से। जो नञ् (निषेध) पूर्वक अखण्ड पद होता है वह अपने वाच्यार्थ के विरोधी परमार्थ पद की अपेक्षा करता है, जैसे अहेतु शब्द अपने वाच्यार्थ के विरोधी परमार्थ पद हेतु की अपेक्षा करता है। जैसे हेतु के अस्तित्व के विना अहेतु पद व्यवहृत नही होता, वैसे ही द्वैत के अस्तित्व के बिना अद्वैत शब्द व्यवहृत नही हो सकता। शायद कहा जाये कि हमारे उक्त अनुमान में [2]अनेकान्त शब्द से व्यभिचार आता है, किन्तु ऐसा कहना ठीक नही है, क्योंकि सम्यक् एकान्त के बिना अनेकान्त भी नही बनता। इसी तरह 'अमाया' आदि शब्दों से भी व्यभिचार नही आता, वे शब्द भी माया आदि शब्दो के बिना व्यवहृत नही होते। अत उक्त कथन में कोई अतिप्रसक्ति नही है। अखण्ड पद के साथ जो नञ् का प्रयोग किया जाता है वह वस्तु का ही निषेधक होता है, अवस्तु का नही। हाँ, पदान्तर से संयुक्त पद

१ आप्तमीमासा, २७।
२ अष्टसहस्री, पृष्ठ १६२।

के साथ जो नञ् का प्रयोग होता है, वह अवस्तु का निषेधक होता है, जैसे अश्वशृ-विषाण। अतएव सर्वत्र प्रतिषेध्य के बिना नाम वाली वस्तु का प्रतिषेध नहीं किया जा सकता। खरविषाण (गधे के सीग) नाम की कोई वस्तु ही नहीं है, अतः उसमें उक्त कथन लागू नही होता।

अद्वैतवादी—परमार्थ से पुरुषाद्वैत में प्रतिषेध का व्यवहार असम्भव है। दूसरे द्वैतवादियों ने जो अनुमान आदि माने हैं, उनसे ही हम द्वैत का अभाव सिद्ध करते हैं। स्व और पर का भेद भी वास्तविक नही है, वह तो अविद्याजन्य है अत कोई दोष नहीं है।

जैन—अद्वैतवाद में अविद्या की ही व्यवस्था नही बन सकती।

अद्वैतवादी—हम अविद्या की ही व्यवस्था वास्तविकता के आधार पर नहीं करते। अविद्या तो अवस्तु है, उसमें प्रमाण का व्यापार सम्भव नहीं है। यदि *परब्रह्म को अविद्यावान् माने तो विद्या से उसका विरोध होता है और यदि वह* अविद्या से रहित है तो अविद्या का मानना व्यर्थ है। 'अविद्या ब्रह्म की नही है' यह कल्पना भी अविद्या में स्थित होकर ही की जाती है। ब्रह्माधार अविद्या तो किसी भी तरह नही हो सकती। यत अनुभव से 'मैं ब्रह्म अविद्या हूँ' ऐसी अनुभूति करता है, अतएव वह अविद्या प्रमाणबाधित है। यदि वह अविद्या प्रमाण बाधित न हो तो उसके भी ब्रह्मरूप होने का प्रसङ्ग आता है। तथा ब्रह्म को नही जानने पर उसमें अविद्या की व्यवस्था नही की जा सकती। और जानने पर भी यदि अविद्या की प्रतीति होती है तो वह तो विद्या ही है, अतः अविद्या की व्यवस्था नही बनती, क्योंकि जो बुद्धि अबाधित है वह मिथ्या नही हो सकती। इसके सिवाय अविद्यावान् मनुष्य अविद्या का निरूपण नही कर सकता। जैसे जन्म से तैमिरिक रोगी दो चन्द्रमा के ज्ञान को भ्रान्त नहीं कह सकता। कहा भी है[1]—

ब्रह्माऽविद्यावदिष्टं चेन्ननु दोषो महानयम्।
निरवद्ये च विद्याया आनर्थक्यं प्रसज्यते॥ १॥
नाऽविद्याऽस्येत्यविद्यायामेव स्थित्वा प्रकल्प्यते।
ब्रह्माधारा त्वविद्येयं न कथञ्चन युज्यते॥ २॥
यतोऽनुभवतोऽविद्या ब्रह्मास्मीत्यनुभूतिमत्।
अतो मानोत्थविज्ञानध्वस्ता साऽप्यन्यथात्मता॥ ३॥
ब्रह्मण्यविदिते बाधान्नाविद्येत्युपपद्यते।
नितरां चापि विज्ञाते मृषा धीर्नास्त्यबाधिता॥ ४॥

---

1 अष्टसहस्री, पृ० १६२-१६३।

अविद्यावानविद्यां तां न निरूपयितुं क्षम' ।
वस्तुवृत्तमतोऽपेक्ष्य नाविद्येति निरूप्यते ॥ ५ ॥
वस्तुनोऽन्यत्र मानाना व्यापृतिर्न हि युज्यते ।
अविद्या च न वस्त्विष्ट मानाघाताऽसहिष्णुत. ॥ ६ ॥
अविद्या अविद्यात्वे इदमेव च लक्षणम् ।
मानाघातासहिष्णुत्वमसाधारणमिष्यते ॥ ७ ॥[1]

अर्थात् ब्रह्म को अविद्यावान् मानने पर यह महान् दोष आता है । और अविद्या रहित ब्रह्म में विद्या व्यर्थ ठहरती है । 'अविद्या ब्रह्म की नही है' यह अविद्या में स्थित होकर ही कल्पना की जाती है । यह अविद्या ब्रह्माधार तो किसी भी तरह नही हो सकती । यत अनुभव से अविद्या 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी अनुभूति करती है, अत. वह प्रमाणजन्य विज्ञान ने बाधित है, अन्यथा उसे ब्रह्मत्व का प्रसङ्ग आता है । ब्रह्म को न जा,ने पर बाधा होने से अविद्या की व्यवस्था नही बनती और जानने पर भी नही बनती, क्योंकि मिथ्या बुद्धि अबाधित नही होती । जो अविद्यावान् है वह उस अविद्या का निरूपण नही कर सकता । क्योकि अविद्या का निरूपण वास्तविकता के आधार पर नही किया जा सकता । प्रमाण की प्रवृत्ति वस्तु मे ही होती है, अवस्तु मे नही । और अविद्या वस्तु नही है, क्योकि वह प्रमाण के आघात को सहन करने मे असमथ है । अविद्या के अविद्या रूप होने मे 'प्रमाण के आघात को सहन न कर सकना ही' असाधारण लक्षण है ।

ऐसी स्थिति मे बिना प्रमाण के अविद्या की कल्पना करने में कोई दोष नही है । ससारी जीवो को स्वानुभव से ही अविद्या की प्रतीति होती है । द्वैतवादियों ने जो प्रमाण बाधित अनेक दृष्ट और अदृष्ट अर्थों की कल्पना की है । उसी मे अनेक दोषो का अनुषग आता है । कहा भी है—

त्वत्पक्षे बहुकल्प्य स्यात् सर्वं मानविरोधि च ।
कल्प्याऽविद्यैव मत्पक्षे सा चानुभवसंश्रया ॥

---

१. बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य वार्तिक, सम्बन्धवार्तिक, १७५-१८१ ।
मूलग्रन्थ में 'व स्थित्वा' के स्थान पर 'वाऽऽसित्वा', 'ब्रह्माधारा', के स्थान पर 'ब्रह्मदृष्टया', 'मत्' के स्थान पर 'वत्', 'यन्यथात्मता' के स्थान पर 'येत्यथात्मताम्' 'बाधान्' के स्थान पर 'बोधान्', 'अविद्यात्वे' के स्थान पर 'अविद्यात्व' और 'च' के स्थान पर 'तु' पाठ मिलता है ।

२ बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य वार्तिक, सम्बन्धवार्तिक, १८२ ।

आप द्वैतवादियों के पक्ष में बहुत कल्पना करनी पड़ती है जो सब प्रमाण विरुद्ध है और हमारे पक्ष में तो केवल एक अविद्या की ही कल्पना की जाती है, जिसका आधार स्वानुभव है।

जैन— उक्त कथन करने वाला अद्वैतवादी बुद्धिमान् नही है, क्योंकि वह स्वय सब प्रमाणों से अतीत स्वभाव वाली अविद्या को मानता है। जो बुद्धिशाली विचारक होता है, वह समस्त प्रमाणों से अतीत स्वभावाली अविद्या अथवा विद्या को नही मान सकता। और प्रमाण अविद्या को जानते हैं ऐसा मानना अनुचित नही है, क्योंकि विद्या की तरह अविद्या भी कथञ्चित् वस्तु है। शायद कहा जाये कि तब तो अविद्या के भी विद्या रूप होने का प्रसङ्ग आता है, किन्तु इसमें अनिष्ट कुछ भी नही है। अकलङ्कदेव ने भी कहा है—

'यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणता'[1]

जहाँ पर जिस रूप से अविसवाद है वहाँ उस रूप से प्रमाणता है।

बाह्य प्रमेय की अपेक्षा से किसी ज्ञान का (जैसे सीप में चाँदी का ज्ञान) अविद्या रूप होना बाधक प्रमाण से जाना जाता है। अत अविद्या सर्वथा प्रमाण का अविषय नही है। और उसका बाधक है प्रतीयमान अर्थ से विपरीत अर्थ का साधक प्रमाण। अत बाह्य प्रमेय की अपेक्षा से ही अविद्या का निरूपण करना चाहिए। कथञ्चित् विद्यावान् ज्ञाता आत्मा को अविद्यावान् मानने में भी कोई विरोध नही है, जिससे कि यह कोई महान् दोष हो। और न अविद्या से शून्य मानने पर विद्या की व्यर्थता का प्रसङ्ग आता है, उसका फल सम्पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति है। अविद्या मे स्थित होकर ही 'इसकी यह अविद्या है' ऐसी कल्पना नही की जाती। विद्या की अवस्था में ही सभी को अविद्या और विद्या के विभाग का निश्चय होता है, स्वप्न आदि अविद्या दशा मे नही होता। इसलिए अविद्या को आत्माश्रित मानना ही युक्तियुक्त है। यत अनुभव से आत्मा यह अनुभव करता है कि मैं अविद्यमान् हूँ, इसलिए उस अनुभविता आत्मा की कथञ्चित् प्रमाणजन्य ज्ञान से अबाधित अविद्या भी विद्या ही है अत. उसके आत्मरूप होने में कोई विरोध नही है। आत्मा के कथञ्चित् अज्ञात रहने पर भी अविद्या के होने मे कोई क्षति नही है, क्योंकि उसमें बाधा के होने में कोई विरोध नहीं

---

१ प्रत्यक्ष विशद ज्ञान प्रसत्त्वासेतरा विषु।
यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणता॥
—सिद्धिविनिश्चय, १।१९।

है। कथञ्चित् विज्ञात आत्मा में भी अविद्या घटित होती है, क्योंकि जो आत्मा को जानता है, उसे ही अविद्या के बाधकत्व का निश्चय होता है। जो बुद्धि कथञ्चित् बाधित होती है, वह मिथ्या है। कथञ्चित् अविद्यावान् मनुष्य उस अविद्या का कथन करने में असमर्थ नही होता। ऐसा मानने पर तो समस्त विचारपूर्ण व्यवहार का लोप हो जायेगा।

आपने जो अविद्या का असाधारण लक्षण कहा है कि जो प्रमाण के आघात को न सह सके वह अविद्या है, यह लक्षण भी प्रमाण की सामर्थ्य से ही निश्चित होता है। अत अविद्या प्रमाणातीत नही है और उसके मानने पर ब्रह्माद्वैत में विरोध आता है। अत द्वैत का निषेध द्वैत का अविनाभावी है।

१२. शब्दाद्वैत-विचार

शब्दब्रह्मवादी ·

[1]ब्रह्म के दो प्रकार हैं—शब्दब्रह्म और परब्रह्म। कहा भी है—

शब्दब्रह्मणि निष्णात परमब्रह्माधिगच्छति।[2]

अर्थात् जो शब्दब्रह्म में निष्णात होता है वही परमब्रह्म को प्राप्त होता है।

शब्दब्रह्म के सद्भाव मे प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण मौजूद है। समस्त योगज अथवा अयोगज प्रत्यक्ष शब्दब्रह्म के उल्लेख को लिए हुए ही प्रतिभासित होते हैं, क्योकि ब्रह्म और आभ्यन्तर अर्थों मे उत्पन्न होने वाले प्रत्यक्ष शब्द से अनुविद्ध ही उत्पन्न होते है। शब्द के सस्पर्श के अभाव मे ज्ञान प्रकाशमान ही नही हो सकते। वचनरूपता शाश्वत है और विचारशीला है, उसके अभाव मे ज्ञानो का कोई रूप ही शेष नही रहता। कहा भी है—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य. शब्दानुगमाद् ऋते।
अनुविद्धमिवाभाति सर्वं शब्दे प्रतिष्ठितम्॥[3]

---

१ न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ १३९।

२ द्वे विद्य वेदितव्ये तु शब्दब्रह्म पर च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णात पर ब्रह्माधिगच्छति॥
—ब्रह्मबिन्दूपनिषद्, १७।

३. अनुविद्धमिव ज्ञान सर्वं शब्देन भासते।
—वाक्यपदीय, १।१२४।

वाग्रूपता चेदुत्क्रामेद् अवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी॥[1]

अर्थात् लोक में ऐसा कोई प्रत्यय नही है जो शब्द के अनुगम के बिना हो। सब ज्ञान शब्द से अनुविद्ध ही प्रतिभासित होता है। सब शब्द में प्रतिष्ठित हैं। यदि शाश्वत वचनरूपता ज्ञान से चली जाये तो ज्ञान प्रकाशित नहीं हो सकता, क्योंकि वह वचनरूपता विचारशीला है।

समस्त व्यवहार भी शब्द से अनुविद्ध ही अनुभव में आता है। 'मैं खाऊँगा, मैं दूँगा' इत्यादि उल्लेखो के बिना कोई भी मनुष्य स्वयं कार्य करने के लिए यत्नशील नही होता। और न 'दो' इत्यादि शब्दो के बिना दूसरे को प्रेरित करता है। 'यह जीवित है और यह मृत है' यह भी शब्दाधीन ही है। सुप्तावस्था में शब्द का उल्लेख न करने से मृत पुरुष से कोई अन्तर प्रतीत नही होता। उसके पश्चात् किसी शब्द से जाग्रत हुआ पुरुष अन्तर्जल्प रूप शब्द से आत्मा का अनुभव करते हुए जीवन को प्राप्त होता है। फिर 'मैं यह करता हूँ' इत्यादि रूप समस्त शब्द भावनाएँ प्रवर्तित होती हैं। वे शब्द भावनाएँ अपने-अपने विषयभूत अर्थों को प्रकट करती हैं। जब पुरुष के द्वारा उच्चारित शब्द आविर्भूत होकर तिरोभूत हो जाता है तो वह अपने अर्थ को भी तिरोभूत कर लेता है, जैसे चन्द्रमा के छिप जाने पर उसकी चाँदनी भी छिप जाती है।[2] शायद कहा जाये कि अद्वैतवाद मे आविर्भाव और तिरोभाव रूप भेद प्रपञ्च कैसे हो सकता है? किन्तु ऐसी आशङ्का उचित नही है, अविद्या से इस प्रकार के भेद का प्रतिभास हो सकता है। जैसे नेत्र-विकार से पीडित मनुष्य विशुद्ध आकाश को भी विचित्र रेखाओं से चित्रित देखता है, वैसे ही अविद्या से ग्रस्त मनुष्य अनादि निधन एक स्वभाव और समस्त भेद प्रपञ्चो से रहित शब्दब्रह्म को आविर्भाव, तिरोभाव आदि प्रपञ्चों से युक्त ही मानता है। कहा भी है—

यथाविशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो जनः।
संकीर्णमिव मात्राभिश्चित्राभिरभिमन्यते॥
तथेदममलं ब्रह्म निर्विकारमविद्यया।
कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं प्रपश्यति॥[3]

---

१. वाक्यपदीय, १।१२४-१२५।

२ न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ १४१।

३. बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य वार्तिक, ३।५।४३-४४।
मूलग्रन्थ में 'अभिमन्यते' के स्थान पर 'उपलक्षयेत्' पाठ मिलता है।

'जैसे तैमिरिक रोगी विशुद्ध आकाश को विचित्र रेखाओं से व्याप्त देखता है। वैसे ही इस निर्मल निर्विकार ब्रह्म को अविद्या से ग्रस्त मनुष्य कलुषता को प्राप्त की तरह भेद रूप देखता है।'

जब समस्त अविद्या का विलास विलीन हो जाता है तो योगी को भेद प्रपञ्च से रहित उसका ठीक-ठीक स्वरूप प्रतिभासित होता है। जैसे जल का विकार बुलबुले निर्मल जल की अपेक्षा करते हैं, वैसे ही यह व्यावहारिक स्थूल अकारादि भेदो का प्रपञ्च परम सूक्ष्म प्रतिभास मात्र रूप वाले और सर्व शब्द विषयक ज्ञान की उत्पत्ति में निमित्त शब्दब्रह्म की अपेक्षा करता है।

इस प्रकार प्रत्यक्ष से प्रतीयमान भी शब्दब्रह्म को जो अविद्याग्रस्त मनुष्य स्वीकार नही करते या उसमे विपर्यास पैदा करते हैं उनके प्रति आगे युक्ति दी जाती है—जो जिस आकार से अनुस्यूत होते हैं वे तन्मय होते है, जैसे घट, सकोरा वगैरह मिट्टी के विकार मिट्टीमय हैं और सभी पदार्थ शब्दाकार से अनुस्यूत हैं। यह हेतु असिद्ध नही है, क्योंकि प्रत्यक्ष से ही समस्त अर्थों को शब्दाकार से अनुस्यूत सिद्ध कर चुके हैं। और उसके सिद्ध होने पर अर्थो का तन्मय होना सिद्ध ही है।

तथा अर्थ का शब्द से भिन्न होना प्रमाण बाधित है। वह प्रमाण इस प्रकार है—अर्थ शब्द से भिन्न नही है, क्योंकि शब्द की प्रतीति होने पर ही अर्थ की प्रतीति होती है। जिसकी प्रतीति होने पर ही जो प्रतीत होता है वह उससे भिन्न नही है, जैसे शब्द का ही स्वरूप। और शब्द की प्रतीति होने पर ही अर्थ की प्रतीति होती है, अत वह उससे भिन्न नही है। इसलिये शब्दब्रह्म के सद्भाव में प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का सद्भाव सिद्ध है।

जैन

[1]शब्दब्रह्मवादियो का उक्त कथन समीचीन नही है। शब्दब्रह्म का सद्भाव क्या इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष स प्रतीत होता है, अथवा अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से, अथवा स्वसवेदन प्रत्यक्ष से ? प्रथम विकल्प तो युक्त नही है। आप शब्दब्रह्म को समस्त देश, काल और अर्थाकारो से युक्त मानते है। इस प्रकार के शब्दब्रह्म का सद्भाव श्रोत्रजन्य प्रत्यक्ष से प्रतीत होता है अथवा अन्य इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष से ? श्रोत्रजन्य प्रत्यक्ष से तो उसकी प्रतीति नही हो सकती, क्योंकि श्रोत्रजन्य प्रत्यक्ष तो

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ १४२।

शब्द के स्वरूपमात्र को प्रत्यक्ष करता है; देश, काल, आकार वगैरह उसके अविषय हैं और शब्दब्रह्म उन सबसे अन्वित है। ऐसी स्थिति में श्रोत्रजन्य प्रत्यक्ष शब्दब्रह्म को कैसे जान सकता है ? जो जिसका अविषय है वह उससे अन्वित को जानने में असमर्थ है, जैसे चक्षुजन्य ज्ञान रस से अन्वित वस्तु को जानने में असमर्थ है और देश-कालाकार श्रोत्रज्ञान का अविषय है। उनको नही जानते हुये भी यदि श्रोत्रज्ञान उनसे अन्वित शब्दब्रह्म को जानता है तो अतिप्रसङ्गदोष आता है। इससे अन्य इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले प्रत्यक्ष से भी शब्दब्रह्म की प्रतिपत्ति खण्डित हो जाती है, क्योकि अन्य इन्द्रियो से उत्पन्न होने वाला प्रत्यक्ष शब्द को विषय नही करता, अत. वह शब्दब्रह्म को जानने में असमर्थ है। इसीलिये इन्द्रिय प्रत्यक्ष से निश्चित रूपादि विषयों से भिन्न शब्दब्रह्म की प्रतीति नही होती।

अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से भी शब्दब्रह्म की प्रतीति नही होती, क्योंकि शब्दब्रह्म के विषय में अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ही असम्भव है। शायद कहें कि योगियो के योगज प्रत्यक्ष होता है, किन्तु यह भी ठीक नही है, क्योकि योगी, योग और योगज प्रत्यक्ष के होने पर अद्वैत के अभाव का प्रसङ्ग आता है।

शब्दब्रह्मवादी—योगी अवस्था में आत्मज्योति रूप शब्दब्रह्म स्वयं प्रकाशित होता है, अत अद्वैत के अभाव का प्रसङ्ग नही आता।

जैन—यह भी मनोरथ मात्र है। योगी अवस्था, आत्मज्योति रूप और प्रकाशन—इन तीनों के सद्भाव में अद्वैत के अभाव का प्रसङ्ग तदवस्थ रहता है।

तथा, योगी अवस्था में शब्दब्रह्म का आत्मज्योति रूप प्रकाशित होने से पहले उसका वह रूप प्रकाशित होता है या नही ? यदि प्रकाशित होता है तो सर्वदा सबको बिना प्रयत्न के मोक्ष हो जायेगा। क्योंकि ज्योति स्वभाव ब्रह्म का प्रकाश ही मोक्ष है और वह अयोगी अवस्था में भी होता है। यदि वह योगी अवस्था से पहले प्रकाशित नही होता तो वह है या नहीं ? यदि नहीं है तो वह नित्य कैसे है ? क्योकि जो कदाचित् होता है वह अनित्य होता है और यदि वह ज्योति स्वरूप अनित्य है तो शब्दब्रह्म को भी अनित्यता का प्रसङ्ग आता है, क्योंकि शब्दब्रह्म उस अनित्य ज्योति रूप ही है। अत द्वैत की सिद्धि होती है, क्योंकि अद्वैत का विनाश होने पर द्वैतसिद्धि अवश्यम्भावी है।

यदि वह है तो क्यों प्रकाशित नहीं होता ? उसका कोई ग्राहक नही है या वह अविद्या से अभिभूत है ? पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्म ही उसका ग्राहक है और वह नित्य होने से सदा सत् है।

दूसरा पक्ष भी ठीक नही है, क्योंकि विचार करने पर अविद्या ही सिद्ध नहीं होती। वह अविद्या ब्रह्म से भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न है तो वस्तु है या अवस्तु ? अवस्तु तो वह हो नही सकती, क्योंकि ब्रह्म की तरह वह भी अर्थक्रियाकारी है। यदि वह अर्थक्रियाकारी नही है तो 'अविद्या के द्वारा विशुद्ध ब्रह्म भी कलुषित सा प्रतीत होता है' यह कथन कैसे घटित होगा ? जिस रोग के कारण आकाश में रेखाओं की प्रतीति होती है, वह तो वास्तविक है। अविद्या के अवास्तविक होने पर दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में समानता न होने से 'यथा विशुद्धमाकाशम् '[1] इत्यादि कथन नही बनेगा।

यदि अविद्या वस्तु है तो ब्रह्म और अविद्या रूप दो वस्तु तत्त्वों के होने से अद्वैत के अभाव का प्रसङ्ग आता है।

यदि अविद्या ब्रह्म से अभिन्न है तो मिथ्या अविद्या से अभिन्न होने के कारण ब्रह्म भी मिथ्या ठहरता है। या फिर सत्य रूप ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण अविद्या भी सत्य सिद्ध होती है, तब वह मिथ्या प्रतीति मे हेतु कैसे हो सकती है ?

अत. अयोगी अवस्था में आत्मज्योति रूप शब्दब्रह्म के असत् होने से ही उसका प्रतिभास नही होता। और उस अवस्था में उसका असत्त्व होने पर योगी अवस्था में उसका सत्त्व कैसे हो सकता है ? जिससे अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से उसकी प्रतीति सम्भव हो।

उक्त कथन से स्वसवेदन प्रत्यक्ष से शब्दब्रह्म की प्रतीति होने का भी खण्डन हो जाता है, क्योंकि आत्मज्योति रूप शब्दब्रह्म को स्वप्न में भी स्वसवेदन की प्रतीति नही होती। यदि होती है तो सभी प्राणियो को बिना किसी प्रयत्न के ही मोक्ष हो जायेगा। क्योंकि आप आत्मज्योति स्वरूप शब्दब्रह्म के स्वसंवेदन को ही मोक्ष मानते हैं।

तथा, 'शब्द का अर्थ के साथ संयोग सम्बन्ध है, या तादात्म्य सम्बन्ध, या विशेषणीभाव सम्बन्ध, अथवा वाच्य-वाचक सम्बन्ध ? सयोग सम्बन्ध तो हो नही सकता, क्योंकि शब्द और अर्थ का देश भिन्न है। जिनका भिन्न देश होता है, उनमें सयोग सम्बन्ध नही होता, जैसे मलय और हिमालय मे। यह बात असिद्ध नही है। शब्द का श्रोत्र देश में और अर्थ का सामने के देश में प्रतिभास होता है। यदि उन दोनों का सयोग सम्बन्ध मानते हैं तो दोनों के दो विभिन्न द्रव्य सिद्ध होने से अद्वैत की सिद्धि कैसे हो सकती है ?

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ १४४।

दोनों में तादात्म्य सम्बन्ध भी नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों का ग्रहण विभिन्न इन्द्रियों से होता है। और जो विभिन्न इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य होते हैं, उनमें तादात्म्य सम्बन्ध नहीं होता। शब्द और अर्थ विभिन्न इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य हैं यह बात असिद्ध नहीं है। शब्दाकार से रहित घटादि का प्रतिभास चक्षुजन्य ज्ञान में होता है और अर्थाकार से रहित शब्द का प्रतिभास श्रोत्रज्ञान में होता है। फिर भी यदि उनका तादात्म्य मानते हैं तो अतिप्रसङ्ग दोष आता है।

यदि अर्थ शब्दात्मक है तो शब्द का ज्ञान होने पर, जिसने यह सकेत ग्रहण नहीं किया कि अमुक शब्द का अमुक अर्थ है, उसको भी अर्थ में संदेह नही होना चाहिये, क्योंकि शब्द की तरह अर्थ का भी उसे ज्ञान हो गया है, अन्यथा शब्द और अर्थ में तादात्म्य नहीं बन सकता। तथा छुरा, अग्नि, पत्थर आदि शब्दों के सुनने से कान के कटने, जलने और चोट लगने का प्रसङ्ग आता है, किन्तु ऐसा होता नही है। अत शब्द और अर्थ के तादात्म्य में विरोध आता है। क्योकि जो जिसका कार्य नही करता, उसका उसके साथ तादात्म्य नही होता, जैसे रूप का रस के साथ तादात्म्य नही है। शब्द भी अर्थ का कार्य दाह आदि नही करता, अत शब्द का अर्थ के साथ तादात्म्य नही है।

शङ्का—यदि शब्द का अर्थ के साथ तादात्म्य नही है तो शब्द से अर्थ की प्रतीति कैसे हो सकती है ?

समाधान—शब्द और अर्थ का तादात्म्य नही होने पर भी सकेतवश शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है। अपनी स्वाभाविक योग्यता से शब्द अर्थ की प्रतीति कराते हैं। अत शब्द का अर्थ के साथ तादात्म्य सम्बन्ध नही है।

न विशेषणीभाव सम्बन्ध ही है। जिनमें कोई अन्य सम्बन्ध नही होता, उनमें सह्य और विन्ध्य की तरह विशेषणीभाव सम्बन्ध भी नही होता। वाच्य-वाचक सम्बन्ध तो शब्द और अर्थ में भेद को ही सिद्ध करता है। भेद के बिना वाच्य-वाचक सम्बन्ध नही हो सकता। अत शब्द और अर्थ में अद्वैत का अविरोधी कोई भी सम्बन्ध नही बनता, इसलिए अर्थ शब्द से अन्वित घटित नही होता।

प्रत्यक्ष से नील आदि को जानने वाला व्यक्ति उसे शब्दाकार से अनन्वित ही जानता है। इस तरह शब्दाकार से अन्वित अर्थ के अभाव में भी आप अर्थ को शब्दाकार से अन्वित मानते हैं। अत. काल्पनिक हेतु से पारमार्थिक ब्रह्म की सिद्धि कैसे हो सकती है ?

आपने कहा था—शब्द से अर्थ भिन्न नही है। आपका यह कथन प्रत्यक्ष बाधित है। शब्द से देशादि के भेद से भिन्न अर्थ प्रत्यक्ष से प्रतीत होता है। 'शब्द की प्रतीति होने पर ही अर्थ की प्रतीति होती है' यह हेतु भी असिद्ध है,

चक्षु ज्ञान से शब्द की प्रतीति नहीं होने पर भी अर्थ की प्रतीति होती है, यदि ऐसा न हो तो बहरे मनुष्य को चक्षु इन्द्रिय से होने वाले प्रत्यक्ष से रूपादि की प्रतीति ही नहीं होगी। अतः शब्दब्रह्म का सद्भाव किसी प्रमाण से सिद्ध नही होता।

यदि थोड़ी देर के लिये शब्दब्रह्म को मान भी लें तो प्रश्न होता है कि जैसे मिट्टी का परिणाम होने से घट मिट्टीमय होता है, क्या उसी तरह शब्द का परिणाम होने से जगत् शब्दमय है ? या शब्द से उत्पन्न होने से जगत् शब्दमय है। प्रथम पक्ष तो ठीक नही है, क्योंकि परिणाम ही नही बनता। प्रश्न होता है कि शब्दब्रह्म स्वाभाविक रूप को छोड़कर नीलादि रूप को प्राप्त होता है या बिना छोड़े ? प्रथम पक्ष में शब्दब्रह्म अनादि निधन नहीं हो सकता, क्योंकि उसका पूर्व स्वभाव नष्ट हो जाता है। दूसरे पक्ष में नीलादि के ज्ञान के समय बहरे मनुष्य को भी शब्द के ज्ञान का प्रसङ्ग आता है, क्योंकि नीलादि शब्द से अभिन्न हैं। यदि नीलादि के ज्ञान के समय शब्द का ज्ञान नही होता तो नीलादि का भी ज्ञान नही होगा। क्योकि शब्द का और नीलादि का तादात्म्य है। अन्यथा उनका तादात्म्य नही बन सकता। तथा शब्दब्रह्म जब नीलादि रूप परिणाम को प्राप्त होता है तो पदार्थ के भेद से भेद को प्राप्त होता है या नही ? यदि भेद को प्राप्त होता है तो शब्दब्रह्म पदार्थों की तरह अनेक हो जायेंगे। यदि भेद को प्राप्त नही होता है तो सभी नीलादि पदार्थों मे देश, काल स्वभाव आदि का भेद नही रहेगा, क्योकि सभी पदार्थ एक स्वभाव शब्दब्रह्म से अभिन्न हैं। अत शब्द का परिणाम होने से तो जगत् शब्दमय सिद्ध नही होता।

शब्द से उत्पन्न होने से भी जगत् शब्दमय सिद्ध नही होता, क्योकि शब्दब्रह्म तो नित्य होने से अविकारी है। और जो अविकारी होता है वह क्रम से कार्यों को उत्पन्न नही कर सकता। बल्कि एक साथ ही सब कार्यों की उत्पत्ति का प्रसङ्ग आता है। कारण की विकलता के कारण ही कार्यों की उत्पत्ति में विलम्ब होता है। शब्दब्रह्म तो सदा अविकल है, उसे किसी की अपेक्षा नही है। इस प्रकार शब्दब्रह्म के ग्राहक प्रमाण का अभाव होने से उसको मानना उचित नही है।

१३. द्वैतैकान्त-विचार

वैशेषिक :

वैशेषिक के मतानुसार द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव—ये सात पदार्थ परस्पर में सर्वथा भिन्न हैं, क्योकि इन सबका लक्षण

भिन्न-भिन्न है, एक का लक्षण दूसरे में नहीं पाया जाता है। इसका खुलासा इस प्रकार है—

द्रव्य का लक्षण गुण आदि में नहीं रहता। जो क्रियावान् हो, गुणवान् हो, समवायिकारण हो तथा जिसमें द्रव्यत्व रहता है, उसे द्रव्य कहते हैं। कहा भी है—

'क्रियावद् गुणवत् समवायिकारणं द्रव्यलक्षणम् ।'[1]

जिनमें यह लक्षण पाया जाता है वे द्रव्य नौ हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन। पृथ्वी, जल, तेज और वायु नित्य और अनित्य के भेद से दो प्रकार के हैं। परमाणु रूप नित्य हैं, क्योंकि सत् होते हुये भी उनका कोई कारण नहीं है। द्व्यणुक (दो परमाणुओं के संयोग से निष्पन्न) आदि अवयविरूप पृथ्वी आदि अनित्य हैं, क्योंकि उनकी उत्पत्ति होती है। आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन—ये नित्य ही हैं।

लक्षण के दो प्रयोजन होते हैं—भेद और व्यवहार। अतः द्रव्य गुणादि से भिन्न है, क्योंकि उसमें द्रव्यत्व रहता है, या वह क्रियावान्, गुणवान् और समवायिकारण है। विवादापन्न 'वस्तु' को 'द्रव्य' कहना चाहिये, क्योंकि उसमें द्रव्यत्व रहता है, आदि। इसी तरह पृथिवीत्व के साथ सम्बन्ध होने से पृथिवी, जलत्व के साथ सम्बन्ध होने से जल, तेजस्त्व के साथ सम्बन्ध होने से तेज और वायुत्व के साथ सम्बन्ध होने से वायु इत्यादि जानना चाहिये। आकाश, काल और दिशा तो एक-एक ही हैं, अतः उनमें आकाशत्व आदि अपर सामान्य के अभाव में भी पारिभाषिक संज्ञा आकाश, काल और दिशा ही उनका लक्षण है। यथा—आकाश इतर से भिन्न है या विवादापन्न द्रव्य को आकाश कहना चाहिये; क्योंकि वह अनादिकाल से आकाश शब्द वाच्य है। इसी तरह दिशा और काल का लक्षण जानना चाहिये। आत्मत्व के अभिसम्बन्ध से आत्मा है। मनस्त्व के अभिसम्बन्ध से मन है।

रूपादि चौबीस गुण हैं। उत्क्षेपण आदि पाँच कर्म हैं। पर और अपर के भेद से दो प्रकार का सामान्य है, जो 'घट घट' इस प्रकार के अनुगत ज्ञान का कारण है। नित्य द्रव्य में रहने वाले और अत्यन्त भेद बुद्धि में जो कारण हैं, वे विशेष हैं। अयुतसिद्ध और आधार्य-आधारभूत पदार्थों में 'इसमें यह है' इस प्रकार का बोध कराने वाले सम्बन्ध को समवाय कहते हैं।

---

१ वैशेषिकसूत्र, १।१।१४।

जैन :

[1]उक्त कथन समीचीन नही है, क्योकि परमाणु रूप पृथिवी आदि के सद्भाव में प्रमाण का अभाव है। हमारा प्रत्यक्ष तो उनके सद्भाव को नही जान सकता, क्योंकि वे अतीन्द्रिय हैं। अनुमान भी उनके सद्भाव में प्रवृत्त नही होता, क्योंकि उनके सद्भाव के साधक अनुमान का अभाव है।

वैशेषिक—परमाणु रूप पृथिवी आदि का साधक अनुमान इस प्रकार है—'द्व्यणुक आदि कार्य अपने परिमाण से अल्प परिमाण वाले कारण से बना है, क्योंकि वह कार्य है, जैसे घट आदि।

जैन—उक्त कथन अविचारपूर्ण है, क्योकि कार्य का अपने परिमाण से अल्प-परिणाम वाले कारण से बनने का कोई नियम नही है। कार्य के परिमाण से अल्प परिमाण वाला द्रव्य कारण होता है, ऐसी सर्वत्र व्याप्ति नही है, किन्तु 'कार्य कारण के बिना नही होता' ऐसी व्याप्ति है। कार्य के परिमाण से अधिक, न्यून अथवा समपरिमाण वाला भी कारण होता है। बडे भारी पयाल के ढेर से और शिथिल अवयव वाले कपास के ढेर से न्यून परिमाण वाली राख तथा ठोस कपास का ढेर उत्पन्न हुआ देखा जाता है। अल्प परिमाण वाले बीज से महा-परिमाण वाला वृक्ष तथा समपरिमाण वाले दूध से समपरिमाण वाला दही उत्पन्न हुआ देखा जाता है। किसी कार्यद्रव्य को अपने परिमाण से अल्प परिमाण वाले कारण से उत्पन्न हुआ देखकर सभी कार्यद्रव्यो को वैसा सिद्ध करना युक्त नही है। अन्यथा शब्द, बिजली और दीपक वगैरह को क्षणस्थायी देखकर सभी पदार्थों को क्षणिक सिद्ध करने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। अत किसी प्रमाण से परमाणु का सद्भाव सिद्ध न होने से 'परमाणु रूप पृथिवी आदि नित्य है, सत् और अकारणवान् होने से' इस अनुमान में हेतु का विशेषण असिद्ध है तथा विशेष्य भी असिद्ध है, क्योंकि स्कन्धो के भेद से परमाणु की उत्पत्ति होती है। इस सम्बन्ध मे अनुमान इस प्रकार है—परमाणु का कारण स्कन्ध रूप अवयवि द्रव्य का विनाश है, क्योकि उसके होने पर ही वे होते है, जैसे घट के विनाशपूर्वक कपाल। यह असिद्ध नही है, क्योकि द्व्यणुक आदि अवयवि द्रव्य का विनाश होने पर परमाणु का सद्भाव प्रसिद्ध है।

वैशेषिक—अवयवि द्रव्य का विनाश होने पर विभाग उत्पन्न होता है परमाणु नही ?

---

१ न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २१५।

जैन—तब तो स्कन्ध के भी अहेतुक होने का प्रसङ्ग आता है। कहा जा सकता है कि अणुओं के मेल से संयोग ही उत्पन्न होता है, स्कन्ध नहीं।

वैशेषिक—अवयवि द्रव्य के विनाश के बिना भी सर्वदा स्वतन्त्र परमाणुओं का सद्भाव सम्भव है, अतः हेतु भागासिद्ध है।

जैन—स्वतन्त्र परमाणु असिद्ध हैं, अत विवादापन्न परमाणु स्कन्धो के भेद से ही उत्पन्न होते हैं परमाणु होने से, जैसे द्वयणुक आदि के भेद से उत्पन्न होने वाले परमाणु।

वैशेषिक—जैसे पट के उत्तरकाल में होने वाले तन्तु पट के भेदन से उत्पन्न होते हैं, किन्तु पट बनने से पहले जो तन्तु होते हैं वे पटभेद पूर्वक नही होते, वैसे ही कोई परमाणु भी स्कन्ध भेद के बिना हो सकते हैं।

जैन—पट बनने से पहले जो तन्तु होते हैं वे कपास को पूनी के भेद से ही उत्पन्न होते हैं, अत वे भी स्कन्ध भेद पूर्वक ही जानने चाहिए।

वैशेषिक—ग्राहक प्रमाण का अभाव होने से आपने ही परमाणु का अभाव बतलाया है, अत ऐसी स्थिति मे परमाणु को स्कन्ध भेद पूर्वक कहना ठीक नही है।

जैन—परमाणु के साधक निर्दोष प्रमाण का अभाव होने से आपके ही मत मे परमाणु का अभाव हमने कहा है। हमारे मत मे तो परमाणु का साधक निर्दोष अनुमान प्रमाण है, अत परमाणु को स्कन्ध भेद पूर्वक बतलाना उचित ही है। अनुमान इस प्रकार है—अणु परिमाण का तर-तम आदि भेद कही पर विश्रान्त है, परिमाण का तर तमादि भेद होने से, महत्परिमाण के तर-तमादि भेद की तरह। *और जिसमे अणु परिमाण विश्रान्त है, वही परमाणु है। अत परमाणु* का सद्भाव असम्भव नही है।

हाँ, वे परमाणु नित्य एक रूप नही हैं, क्योंकि नित्य एक रूप मानने पर वे क्रम और युगपद् अर्थक्रिया नही कर सकते। इसका खुलासा इस प्रकार है—यदि परमाणु एकान्त से नित्य स्वभाव हैं तो वे सर्वदा कार्य अजनन स्वभाव वाले हैं या नही ? प्रथम पक्ष में द्वयणुक आदि कार्य के सर्वदा असत्त्व का प्रसङ्ग आता है, क्योंकि सर्वदा कार्य को उत्पन्न न करने रूप स्वभाव वाले परमाणुओं से द्वयणुक आदि कार्य उत्पन्न नही हो सकते। जो जिसको उत्पन्न न करने रूप स्वभाव वाला होता है उससे उसकी उत्पत्ति नही होती, जैसे शालि बीज से जौ के अङ्कुर की उत्पत्ति नही होती। और आप परमाणु को सर्वदा द्वयणुक आदि

कार्य को न उत्पन्न करने रूप स्वभाव वाला मानते हैं। और ऐसी स्थिति में परमाणु का भी असत्त्व हो जायेगा, क्योंकि वह कार्य को नहीं करता। जो कुछ भी कार्य नही करता वह असत् है, जैसे आकाश फूल। और आपके मत में परमाणु सर्वदा कार्य को उत्पन्न न करने रूप स्वभाव वाले होने के कारण कार्य को नही करते। यदि परमाणु सर्वदा कार्यजनन स्वभाव हैं तो वे अकेले कार्य करते हैं, या सहकारी सहित होकर कार्य करते हैं ? यदि एकाकी कार्य करते हैं तो उनसे उत्पन्न होने वाले कार्यों की उत्पत्ति एक बार में ही हो जायेगी, क्योंकि उनकी उत्पत्ति का कारण अविकल है। जो अविकल कारण होते हैं वे एक बार मे ही उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे समान समय में उत्पन्न होने वाले अङ्कुर। और सभी कार्य अविकल कारण माने गये हैं। यदि अविकल कारण होते हुये भी वे उत्पन्न नही होते तो सर्वदा उनकी अनुत्पत्ति का प्रसङ्ग आता है।

वैशेषिक—कार्य की उत्पत्ति तीन कारणो से होती है, वे हैं—समवायि-कारण, असमवायिकारण और निमित्त-कारण। जिसमें कार्य समवाय सम्बन्ध से रहता है, उसे समवायिकारण कहते हैं, जैसे द्वयणुक का समवायिकारण दो अणु है। जो कार्य को कार्य के एक अर्थ में समवेत या कार्य के कारण के एकार्थ में समवेत उत्पन्न करता है उसे असमवायिकारण कहते हैं, जैसे पट के आरम्भ में तन्तु संयोग और पट समवेत रूपादि के आरम्भ में पटोत्पादक तन्तु रूपादि असमवायिकारण है। शेष उत्पादक निमित्त-कारण होते हैं, जैसे अदृष्ट आकाश वगैरह। अत द्वयणुक आदि की उत्पत्ति में अपेक्षणीय संयोगादि का अभाव होने से उनको अविकल कारण बतलाना असिद्ध है।

जैन—परमाणु में संयोग आदि के द्वारा अतिशय ला सकना सम्भव न होने से संयोगादि की अपेक्षा नही बनती। यदि कहोगे कि संयोग ही परमाणुओं का अतिशय है तो वह नित्य है या अनित्य ? यदि नित्य है तो सर्वदा कार्य की उत्पत्ति होनी चाहिये, क्योंकि अतिशयभूत संयोग सदा सत् है। यदि वह अनित्य है तो उसकी उत्पत्ति में कौन अतिशय होता है ? संयोग या क्रिया। यदि संयोग है तो वही या अन्य ? वही संयोग तो अभी भी असिद्ध है। तथा अपनी उत्पत्ति में अपना ही व्यापार होना सम्भव नही है। संयोगान्तर आप मानते नही हैं, यदि मानेंगे तो उसकी उत्पत्ति मे भी अन्य संयोग रूप अतिशय की कल्पना का प्रसङ्ग आने से अनवस्था दोष आता है। क्रिया रूप अतिशय भी नही बनता, उसकी उत्पत्ति में भी पूर्वोक्त दोष का अनुषङ्ग आता है। तथा, आत्मा और अणु के अदृष्ट सापेक्ष संयोग से परमाणु में क्रिया उत्पन्न होती है, ऐसा आप

मानते हैं, अतः आत्मा और परमाणु के संयोग की उत्पत्ति में भी अन्य अतिशय मानना चाहिये, क्योंकि उसमें भी उसी दूषण के आने से दूसरा अनवस्था दोष आता है। तथा [1]परमाणुओं का यह संयोग सर्वात्मना होता है या एकदेश से ? यदि सर्वात्मना होता है तो पिण्ड अणु मात्र हो जायेगा। यदि एकदेश से होता है तो परमाणु की सांशता का प्रसङ्ग आता है। अतः अकेले परमाणु तो कार्य जनन स्वभाव नही हो सकते। सहकारी सहित परमाणु भी यदि कार्य जनन स्वभाव हैं तो उनके सहकारी परमाणुगत अतिशय विशेष ही हैं या अन्य वस्तु है ? प्रथम पक्ष में ऊपर कहे गये समस्त दोष आते हैं। दूसरे पक्ष में वे अन्य वस्तुएँ अणुओ का उपकार करती हैं या नही ? यदि करती हैं तो भिन्न करती हैं या अभिन्न ? यदि अभिन्न उपकार करती हैं तो परमाणु से अभिन्न उपकार करने पर परमाणु को भी कार्यता का प्रसङ्ग आता है। यदि भिन्न उपकार करती हैं तो उस उपकार से ही कार्य की उत्पत्ति हो जाने से परमाणु अकारक हो जायेगे। यदि कहा जाता है कि उस उपकार की सहायता से परमाणु कार्य करते है तो वह उपकार उपकारान्तर के द्वारा परमाणु का सहकारी है या सत्ता मात्र से ? प्रथम पक्ष में अनवस्था दोष आता है, क्योंकि दूसरा उपकार भी उपकारान्तर करने से ही सहकारी हो सकेगा। दूसरे पक्ष में अतिप्रसङ्ग दोष आता है, क्योंकि सत्तामात्र से तो सब सभी के सहकारी हो सकते हैं।

यदि कहोगे कि सहकारी अणुओ का कुछ नही करते, वे मिलकर के कार्य को ही निष्पन्न कर देते है तो यह भी ठीक नही है, क्योंकि प्रत्येक अणु समर्थ होते हुये सहकारियो के साथ मिलकर कार्य करता है या असमर्थ होते हुये ? यदि समर्थ है तो प्रत्येक परमाणु के कार्य को उत्पन्न करने का प्रसङ्ग आने से कार्य के भेद का प्रसङ्ग आता है और सहकारियो की अपेक्षा व्यर्थ ठहरती है। यदि कहोगे कि प्रत्येक परमाणु कार्य करने मे असमर्थ है तो सहकारियो का सान्निध्य होने पर उसमे सामर्थ्य कैसे आ सकती है ? यदि कहोगे कि सहकारियों से सामर्थ्य आती है तो वे सहकारी उन परमाणुओ से भिन्न सामर्थ्य करते हैं अथवा अभिन्न ? यदि अभिन्न करते है तो परमाणुओ के कार्य रूप होने का प्रसङ्ग आता है। यदि भिन्न सामर्थ्य करते हैं तो उस सामर्थ्य के साथ परमाणुओं का सम्बन्ध नहीं बनता, क्योंकि समवाय आदि सम्बन्ध असम्भव है। तथा उस सामर्थ्य से ही कार्य की उत्पत्ति का प्रसङ्ग आने से परमाणु अकारक हो जायेंगे।

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २१९।

तथा परमाणु जिस रूप से एक कार्य को उत्पन्न करते हैं, उसी से अन्य कार्य को उत्पन्न करते हैं अथवा रूपान्तर से ? प्रथम पक्ष में सब कार्यों के एकत्व का प्रसङ्ग आता है, क्योकि वे सब एक स्वभाव कारण के कार्य हैं। यदि वे परमाणु रूपान्तर से कार्य को उत्पन्न करते हैं तो उस समय उन परमाणुओं का पूर्वरूप नष्ट होता है या नही ? यदि नष्ट होता है तो परमाणुओं की अनित्यता का प्रसङ्ग आता है, क्योंकि अपने स्वरूप से च्युत होना अनित्यता का लक्षण है। यदि पूर्व रूप नष्ट नही होता तो परमाणुओ में रूपान्तर कैसे सम्भव हो सकता है ? क्योकि जिसका पूर्वरूप नष्ट नही होता उसमें रूपान्तर सम्भव नही है, जैसे अङ्गुली में सङ्कोचित रूप की निवृत्ति हुये बिना प्रसारण रूप नही आ सकता।

अत सर्वथा नित्य और एक स्वभाव परमाणु कार्यकारी नहीं हो सकते। पूर्व अजनक स्वभाव को छोडकर जब वे विशिष्ट सयोग परिणाम से परिणत होते हैं तभी उनमें जनक स्वभाव सम्भव हो सकता है, अत परमाणु कथञ्चित् नित्य सिद्ध होते हैं। जो क्रम से कार्य करते हैं वे अनित्य होते हैं, जैसे क्रम से अङ्कुरादि को उत्पन्न करने वाले बीज वगैरह, वैसे हो परमाणु भी है। अत वैशेषिकों के द्वारा मान्य पार्थिव परमाणु रूप नित्य द्रव्य सिद्ध नही होता।

और न उन नित्य परमाणुओ से आरब्ध द्वयणुक आदि अवयवि द्रव्य ही सिद्ध होता है। कार्य-कारणभाव के सिद्ध होने पर द्वयणुक आदि को परमाणुओ के द्वारा आरब्ध कहा जा सकता है, किन्तु वैशेषिक मत में कार्यकारणभाव ही सिद्ध नही है, क्योकि विचार करने पर वह बनता ही नही है। खुलासा इस प्रकार है—

यौगमत में द्वयणुकादि अवयवि द्रव्य कार्य हैं सो इस कार्यत्व का क्या आशय है ? स्वकारण सत्ता समवाय, या नही होकर के होना (अभूत्वा भावित्व)। प्रथम पक्ष में स्वकारण सत्ता समवाय का क्या अर्थ है ? कार्य का अपने कारणो से और सत्ता से समवाय, या अपने कारणो का सत्ता से समवाय, या सत्ता से युक्त तत्समवाय। प्रथम पक्ष मे अपने कारणों से और सत्ता से समवाय उत्पन्न कार्य का होता है, या अनुत्पन्न का ? यदि उत्पन्न का तो अन्योन्याश्रय नामक दोष आता है। स्वकारण सत्ता समवाय के सिद्ध होने पर कार्य की उत्पत्ति सिद्ध होती है और उत्पत्ति के सिद्ध होने पर स्वकारण सत्ता समवाय सिद्ध होता है। और अनुत्पन्न कार्य तो आकाशपुष्प के समान असत है, अत उसका स्वकारणों से और सत्ता से समवाय कैसे हो सकता है ?

---

१ न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २२०।

यदि स्वकारण सत्ता समवाय का अर्थ कारणों का सत्ता से समवाय है तो, “कार्य के कारणों का सत्ता से समवाय होने पर कार्य का तो कुछ भी नही हुआ। घट का सत्ता से समवाय होने पर पट का कुछ भी नहीं होता। यदि सत्ता के सहित सत्समवाय ही कार्य की कार्यता है तो समवाय का स्वरूप असिद्ध है, क्योकि आगे उसका निराकरण करेंगे, अतः वह कार्य का लक्षण नही हो सकता।

यदि अभूत्वा भावित्व (नहीं होकर होना) का नाम कार्य है तो यहाँ ‘नही होना’ और ‘होना’—इन दोनो में कर्त्तापना किसको है? कार्य तो गधे के सींग के समान असत् है, अतः वह तो कर्त्ता हो नहीं सकता। ‘होने’ का अर्थ है स्वरूप को स्वीकार करना, असत् के लिये यह बात दुर्घट है। अतः वैशेषिक मत में कार्यत्व नही बनता।

तथा कारण भी नही बनता। कार्य मात्र का जो उत्पादक है उसे कारण कहते है, या नियत कार्य का उत्पादक है उसे कारण कहते है? प्रथम पक्ष में सब सबके कारण हो जायेंगे, क्योकि कार्य मात्र का उत्पादकपना सब में पाया जाता है। और ऐसी स्थिति में कोई भी नियत कार्य का अर्थी नियत कारण का उपादान नही करेगा। दूसरे पक्ष में कार्य के गधे के सींग की तरह असत् होने से उसके द्वारा कारण का स्वरूप कैसे निर्धारित हो सकेगा। सत् के द्वारा ही वास्तविक स्वरूप का निर्धारण होता है। असत् के द्वारा निर्धारण करने पर तो कारण के भी असत्त्व प्रसङ्ग आता है। यदि कहोगे कि विकल्प मात्र से कल्पित कार्य के द्वारा कारण के स्वरूप का निर्धारण हो जायेगा तो कारण भी विकल्प कल्पित ही रहेगा, क्योंकि कल्पित के द्वारा वस्तु का वास्तविक रूप सिद्ध नहीं होता, जैसे यह बालक सिंह है।

तथा कारणों की प्रवृत्ति कार्य का आलम्बन लेकर होती है, या बिना ही आलम्बन के होती है? यदि कार्य के आलम्बन के बिना ही कारणो की प्रवृत्ति होती है तो कभी कारणों का विराम ही नही होगा और ऐसी स्थिति में गधे के सींग वगैरह की भी उत्पत्ति हो जायेगी। यदि कार्य का आलम्बन लेकर कारणो की प्रवृत्ति होती है तो कार्य की सत्ता स्वीकार कर ली गई और ऐसी स्थिति मे कारणों का व्यापार व्यर्थ हो जाता है।

वैशेषिक—व्यापार की वजह से कारण कारण नहीं है, किन्तु जिसके होने पर जो होता है और नहीं होने पर जो नहीं होता वह कार्य और दूसरा कारण कहा जाता है।

जैन—'उसके अभाव में नही होता' जैसे यहाँ कोई कारण का व्यापार नही है वैसे ही 'उसके होने पर होता है' यहाँ भी कारण के सद्भाव मात्र का ही कथन हुआ, कार्य के विषय मे उसने कुछ किया, यह इससे ध्वनित नही होता।

वैशेषिक—जो कार्य से पूर्वकाल भावी होता है उसे कारण कहते हैं, किसी प्रकार के व्यापार का नाम कारण नही है।

जैन—तब तो कार्य से पूर्वकाल भावी जगत् मे वर्तमान सभी पदार्थों को कारणत्व का प्रसङ्ग आने से अतिप्रसङ्ग दोष आता है।

वैशेषिक—जो नियम से पूर्वकाल भावी होता है वही कारण है।

जैन—तब तो मेरु भी वस्त्र का कारण कहा जायेगा।

वैशेषिक—मेरु वगैरह कार्य मे पूर्व ही नही होते, उत्तरकाल में भी होते है, अत वे कारण नही हैं।

जैन—तब तो तन्तु भी पट के कारण नही कहे जायेंगे, क्योंकि वे पट के उत्तरकाल मे भी रहते है।

वैशेषिक—कार्यकारणभाव नियत काल मे ही होता है। अन्त्य तन्तु सयोग रूप सामग्री ही पट के प्रति कारण है, पट भी अपनी सत्ता लाभ करने के क्षण में ही कार्य है। यदि ऐसा न हो तो अविकल कारण सामग्री के मिलने पर पुन दूसरे पट की उत्पत्ति हो जाये।

जैन—यदि पूर्व क्षण मे होने वाला कारण और अनन्तर क्षण मे होने वाला कार्य अपने अपने नियत काल मे ही होते हैं तो दोनो का सहभाव न हो सकने से परस्पर मे एक दूसरे की अपेक्षा से जो कार्यकारणभाव होता है, वह दुर्घट हो जायेगा।

इस प्रकार वैशेषिक के मत मे कार्यकारणभाव नही बनने से 'द्व्यणुक आदि अवयविरूप पृथिवी आदि अनित्य हैं, उत्पन्न होने से' यह कथन युक्त नही है।

१४. अवयव-अवयवी-विचार

वैशेषिक .

पृथिवी आदि अवयवी अपने अवयवो से अत्यन्त भिन्न हैं, यह बात अनुमान प्रमाण से सिद्ध है। अनुमान इस प्रकार है—अवयव और अवयवी अत्यन्त भिन्न होते हैं भिन्न प्रतिभास होने से, घट-पट की तरह। घट और पट में अत्यन्त भेद

होने पर ही भिन्न प्रतिभास पाया जाता है। अवयव और अवयवी में भी भिन्न" प्रतिभास पाया जाता है तब वे अत्यन्त भिन्न क्यों नहीं हैं ? अवयव और अवयवी में भिन्न प्रतिभासपना असिद्ध नहीं है, पटादि अवयवी का प्रतिभास तन्तु आदि अवयवी के प्रतिभास से विलक्षण होता है, यह सब प्राणियों को मालूम है। तथा विरुद्ध धर्माध्यास से भी दोनों में जल और अग्नि की तरह भेद है। पट में पटत्व जाति रहती है, वह विलक्षण अर्थक्रिया करता है और अति महान् होता है। तन्तुओं में तन्तुत्व जाति रहती है और वे अल्प परिणाम वाले होते हैं। तथा दोनो के कर्ता भी भिन्न होते हैं, इसलिये भी उनमे भेद है। तन्तु तो विधवा स्त्रियों के द्वारा पूनी कातने से बनते है। और पट तुरि, तन्तु, शलाका तथा जुलाहे के बुनने से बनता है। अवयव और अवयवो की शक्तियाँ भिन्न-भिन्न हैं, पिता और पुत्र की तरह दोनो पूर्वोत्तरकाल भावी हैं। बेर और आँवले की तरह दोनों का परिमाण भी भिन्न-भिन्न है। यदि उनमे फिर भी अभेद माना जायेगा तो पदार्थों मे संकर दोष का प्रसङ्ग आने से सर्वत्र भेद व्यवहार के ही उच्छेद का प्रसङ्ग आयेगा।

यदि अवयव और अवयवी मे तादात्म्य माना जायेगा तो प्रतिभास भेद वगैरह अत्यन्त दुर्लभ हो जायेंगे। एकत्व को तादात्म्य कहते है। उसके होने पर प्रतिभास भेद या विरुद्धधर्माध्यास वगैरह कैसे हो सकते हैं ? यदि पटादि अवयवी तन्तु आदि अवयवों से भिन्न नही हैं तो तन्तु भी अपने अवयवो से भिन्न नही होगे और वे भी अपने अवयवो से भिन्न नही होगे, निरश परमाणु तक ऐसी ही स्थिति होने पर समस्त कार्यों का ही अनुपलम्भ हो जायेगा। अत. अवयवो से अवयवी को भिन्न ही मानना चाहिये। यह कहा जाता है कि 'अवयवी अवयवों से भिन्न नही है, क्योंकि उसमें अनेक दोष आते हैं, जो इस प्रकार हैं—पट आदि अवयवी तन्तु आदि अवयवो में एकदेश से रहता है अथवा सर्वात्मना ? एकदेश से तो नही रहता, क्योंकि अवयव के सिवाय अवयवी के अन्य देश नही हैं। यदि हैं तो उनमें भी अवयवी को इसी प्रकार रहना चाहिये, अत अनवस्था दोष आता है। यदि अवयवी अवयवो मे सर्वात्मना रहता है तो एक ही अवयव में अवयवी के सर्वात्मना रहने से अन्य अवयवो मे अवयवी के अभाव का प्रसङ्ग आता है। अथवा यदि अवयवी प्रत्येक अवयव मे सर्वात्मना रहता है तो जितने अवयव हैं उतने ही अवयवो मानने होगे।'

---

१ न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २२३।

[1]यह सब कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि अवयवी का निराकरण करने के लिये यह स्वतंत्र साधन है या प्रसङ्ग साधन ? यदि यह स्वतंत्र साधन है तो धर्मि और साध्य में व्याघात आता है। जैसे 'यह' और 'नहीं है' कहने में व्याघात आता है। दूसरे, विशेष का निषेध शेष को स्वीकार कराता है। अत एकदेश से या सर्वात्मना से अवयवी की अवयवों में वृत्ति का निषेध करने पर प्रकारान्तर से ही वृत्ति माननी होगी। नही तो (अन्यथा) अवयवो में अवयवी नही रहता, इतना ही कहना चाहिये। तीसरी, वृत्ति है समवाय। वह एक और निरवयव है, अत वह सर्वात्मना और एकदेश का अविषय है। सर्वात्मना और एकदेश शब्द भेद को विषय करते हैं, अत अभिन्न अवयवी मे उनकी प्रवृत्ति अयुक्त है। 'सर्वात्मना' का मतलब है अनेक के होने पर सबको कहना और एकदेश का मतलब है अनेक मे से किसी एक का कहना। ये दोनो शब्द-भेद के होने पर ही व्यवहृत होते हैं, अत एक अवयवी मे नही बन सकते। इसलिये यह स्वतत्र साधन तो नही है।

यदि प्रसङ्ग साधन है तो दूसरे की इष्टि के द्वारा अनिष्ट का आपादन करने को प्रसङ्ग साधन करते हैं, अत परेष्टि प्रमाण है या अप्रमाण ? यदि वह प्रमाण है तो उसी से बाधित होने से विपरीत अनुमान बन ही नही सकता। यदि परेष्टि अप्रमाण है तो 'प्रमाण के बिना प्रमेय की सिद्धि नहीं होती' इतना ही कहना चाहिये। उक्त अनुमान को उपस्थित करने का प्रयास ही व्यर्थ है।

जैन :

भिन्न प्रतिभास होने से आप अवयव और अवयवी में कथञ्चिद् भेद सिद्ध करते है या सर्वथा ? प्रथम पक्ष में सिद्ध साधन है, क्योंकि हम जैन भी अवयव और अवयवी मे कथञ्चिद् भेद मानते हैं। दूसरे पक्ष में प्रत्यक्ष बाधा है; क्योंकि प्रत्यक्ष मे अवयव-अवयवी कथञ्चित् तादात्म्य रूप से ही प्रतिभासित होते हैं, अत्यन्त भेद का प्रतिभास नहीं होता। इस प्रतिभास का बाधक यदि कोई [2]अनुमान है तो उस अनुमान का हेतु क्या है ? क्या भिन्न प्रतिभास होने से अवयव-अवयवी मे अत्यन्त भेद है या भिन्न अर्थक्रियाकारी होने से भेद है, या कारणो से उत्पन्न होने के कारण दोनो में भेद है, या कालभेद होने से भेद है, या विरुद्ध धर्माध्यास से भेद है, या शक्ति भेद होने के कारण दोनो में भेद है, अथवा

१ न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २२४।
२ न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २२५।

परिणाम भेद होने के कारण दोनों में भेद है ? पहला हेतु ठीक नहीं, क्योंकि उसका पक्ष प्रत्यक्ष से बाधित है। प्रत्यक्ष से अवयव-अवयवी कथञ्चित् तादात्म्य रूप ही प्रतिभासित होते हैं, अत्यन्त भिन्न नही। यह ऊपर लिख आये हैं।

भिन्न अर्थ क्रियाकारी होने से भी दोनो में भेद नही है। ऐसा मानने से नर्तकी से व्यभिचार आता है। नर्तकी दर्शकों को हर्ष-विषाद आदि अनेक अर्थ-क्रिया करते हुये भी एक ही है, नाना नहीं है। 'भिन्न कारणो से उत्पन्न होना' हेतु अकुरादि से व्यभिचारी है। अनेक कारणो से उत्पन्न होने पर भी अकुर एक ही है। काल भेद से अवयव-अवयवी मे भेद सिद्ध करते हैं तो सूत कातने वाली विधवा की पिटारी मे रखे हुये तन्तुओ से पट का भेद सिद्ध करते हैं या पट अवस्था को प्राप्त तन्तुओ से पट का भेद सिद्ध करते हैं ? प्रथम पक्ष में सिद्ध साधन है, सूत कातने वाली के पिटारे मे रखे हुए तन्तुओ से पट का भेद हम भी मानते हैं। दूसरे पक्ष मे हेतु असिद्ध है, क्योंकि पट अवस्था को प्राप्त तन्तुओ का पट से काल भेद नही है।

विरुद्धधर्माध्यास हेतु भी धूपदानी से व्यभिचारी होने के कारण अवयव-अवयवी में अत्यन्त भेद सिद्ध नही कर सकता। धूपदानी का जो भाग हाथ मे रहता है वह ठण्डा रहता है और जिसमें आग रहती है वह गर्म होता है। इस प्रकार विरुद्धधर्माध्यास होने पर भी धूपदानी एक ही होती है।

शक्ति-भेद तथा परिणाम-भेद से भी तन्तु और पट वगैरह में कथञ्चिद् अवस्था-भेद ही सिद्ध होता है, आत्यन्तिक भेद नही, और कथञ्चिद् भेद हम भी मानते हैं। अत उक्त हेतुओ से भी अवयव-अवयवी में कथञ्चिद् भेद ही सिद्ध होता है, इसलिये उक्त प्रत्यक्ष का बाधक कोई अनुमान नही है। अत अवयव-अवयवी में अत्यन्त भेद असिद्ध हैं।

और जो आपने 'प्रसङ्ग साधन है या स्वतन्त्र साधन' आदि कहा है वह भी असार है। वह स्वतन्त्र साधन हो या प्रसङ्ग साधन, इससे आपको क्या प्रयोजन है ? स्वतन्त्र साधन का प्रयोग अवयवी के सद्भाव का निराकरण करने के लिये नहीं किया है, किन्तु अत्यन्त भेद का निराकरण करने के लिये किया है। बुने गये तन्तु आदि अवयवो[1] की आत्मभूत अवस्था विशेष रूप जो पटादि अवयवी हैं, उसका हम निराकरण नही करते। उसमें उक्त दूषण नही आते। अवयव से सर्वथा भिन्न अवयवी 'एकदेश से या सर्वदेश से रहता है'

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २२७।

इत्यादि दोष का भाजन होता है, स्वात्मभूत नही। जो स्वात्मा से भिन्न वस्तु में रहता है वह सर्वात्मना या एकदेश से रहता है, जैसे कुण्ड मे बेल या अनेक आसनो पर एक देवदत्त। अवयवी स्वात्मा से भिन्न अवयवो मे रहता है, ऐसा आपका मत है, अत वह दोषपूर्ण है।

आपने कहा था कि 'सर्वात्मना और एकदेश शब्द भेद को विषय करते हैं, अभिन्न अवयवी में उसकी प्रवृत्ति अयुक्त है' यह भी कथन मात्र है, अनेक अवयवों मे वतमान एक निरश अर्थान्तरभूत अवयवी की प्रतीति नही होती और सर्वात्मना तथा एकदेश को छोडकर प्रकारान्तर से वृत्ति की भी प्रतीति नही होती। जो जहाँ रहता है या तो वह एकदेश से रहता है जैसे अनेक शाखाओ पर एक बाँस, या सर्वात्मना रहता है जैसे कुण्ड मे दही। अत दोनो प्रकार नही मानने पर अवयवी की अवयवो मे वृत्ति नही बन सकती, क्योकि वृत्ति के व्यापक एकदेश और सवदेश का अभाव है। और वृत्ति के न बनने पर अवयवी का अवयव से सवथा भेद का अभाव है। तथाहि—तन्तु आदि अवयवों से पटादि अवयवी सर्वथा भिन्न नही है, क्योकि वह उनमे न तो एकदेश से रहता है और न सर्वात्मना रहता है। जो जिससे सर्वथा भिन्न होता है वह उसमे सर्वदेश या एकदेश से नही रहता, जैसे कुण्ड वगैरह मे दही वगैरह। उसी तरह अवयवी भी अवयवो मे न एकदेश से रहता है और न सवदेश से रहता है।

तथा, यदि अवयवी निरश एक स्वभाव है तो वह एक साथ अनेक अवयवो मे व्याप्त होकर नही रह सकता, क्योकि जो निरकुश एक स्वभाव द्रव्य होता है वह एक साथ अनेक द्रव्यो में व्याप्त होकर नही रहता, जैसे परमाणु। और अवयवी द्रव्य निरश एक स्वभाव है, इसमें आकाश आदि से व्यभिचार नही आता, क्योकि अनन्त प्रदेशी होने से आकाश निरश नही है। यदि अवयवी निरश है तो लगोटी वगैरह से शरीर का एकदेश ढाँकने पर समस्त शरीर ढाँका जाता है या नही? यदि समस्त शरीर ढाँका जाता है तो विवक्षित अवयव की तरह पूरा शरीर दिखाई नही देना चाहिये।

वैशेषिक—लगोटी[1] वगैरह से विवक्षित अवयव के ढाँके जाने पर भी शरीर नही ढाँका जा सकता, क्योकि एक अवयव को ढाँकने वाली लगोटी में पूरे शरीर को ढाँकने की शक्ति नही है। जितना वस्त्र एक अवयव को ढाँकता है उतना ही अवयवी को नही ढाँक सकता, क्योकि अवयव से अवयवी बडा होता है।

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २२८।

जैन—तो उस लगोटी से शरीर के एकदेश का आवरण होता है या नहीं? प्रथम पक्ष में निरश अवयवी के देश का अभाव होने से उसका आवरण नही बन सकता। यदि देश का आवरण होता है तो वह निरश नही हो सकता। यदि कहा जाये कि लंगोटी वगैरह से अवयवी के एकदेश का भी आवरण नही होता तो पूरा शरीर दिखाई देना चाहिये, क्योंकि अवयव को ढाँकने या नहीं ढाँकने पर भी अवयवी मे कोई विशेषता नही आती। दोनों ही अवस्थाओं में अवयवी को अनावृत ही माना जाता है। यदि लंगोटी से ढाँका हुआ शरीर का अवयव दिखाई नही देता, ऐसा मानते है तो अवयवी एक नही हो सकता, ढँका और बेढँका या अदृश्य होने से उसमें कथञ्चिद् भेद सिद्ध होता है।

तथा, तन्तु आदि एक अवयव के लाल रगे जाने पर अवयवी पटादि रगा जाता है या नही? यदि रगा जाता है तो पूरे अवयवी में लाल प्रत्यय होना चाहिये। यदि अवयव के रगे जाने पर भी अवयवी नही रगा जाता है तो यह कथन लोक विरुद्ध है। 'तन्तु आदि अवयवो के रगे जाने पर भी पट नही रगा जाता' ऐसा कोई नही मानता।

अत अवयवो से अत्यन्त भिन्न निरश अवयवी नही मानना चाहिये, किन्तु ताने-बाने रूप अवस्था विशेष से विशिष्ट तन्तु आदि अवयवो के कथञ्चिद् एकत्व परिणति रूप अवस्था विशेष को ही पट आदि अवयवी मानना चाहिये।

बौद्ध .

[1]रूपादि से भिन्न अवयवी की किसी भी प्रमाण से प्रतीति नही होती, अत बुद्धिमानो के लिए अवयवी को स्वीकार करना उचित नही है। इसका खुलासा इस प्रकार है—रूप आदि से भिन्न अवयवी की प्रतीति प्रत्यक्ष से होती है या अनुमान से? प्रत्यक्ष से तो नही होती, क्योंकि चक्षु आदि इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले ज्ञान में रूपादि का ही अवभास होता है, अवयवी का नहीं। उसी को यदि आप अवयवी नाम देते हैं तो हमे कोई विरोध नहीं है, यह तो नाम मात्र का भेद है। अनुमान से भी रूपादि से भिन्न अवयवी की प्रतीति नही होती, क्योंकि प्रत्यक्ष के अविषय में अनुमानकी प्रवृत्ति नही होती। यदि प्रत्यक्ष से अवयवी को और उसके अविनाभावी किसी लिङ्ग को जाना होता तो धूम से अग्नि की तरह कही उस लिङ्ग को देखकर अवयवी का अनुमान किया जा सकता था, किन्तु रूपादि से भिन्न अवयवी की प्रतीति स्वप्न मे भी प्रत्यक्ष से नही होती। अत. ग्राहक प्रमाण का अभाव होने से अवयवी का अभाव है।

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २३१।

तथा अवयवी की उत्पत्ति मे कोई कारण भी नही बनता, इसलिये भी अवयवी नही है। द्वयणुक आदि अवयवी की उत्पत्ति में कारण परमाणु सयोग को माना जाता है। वह परमाणु सयोग न एकदेश से बनता है और न सर्वात्मना बनता है। परमाणुओं का सयोग सर्वात्मना मानने पर पिण्ड को अणुमात्रता का प्रसङ्ग आता है। एकदेश से भी परमाणुओं का सयोग नही बनता, क्योंकि परमाणुओ के देश सम्भव नही हैं। यदि उनके देश हैं तो वे परमाणु नही हैं, क्योंकि छह दिशाओ के भेद से एक साथ छह परमाणुओ के साथ सयोग होने से परमाणु को षडंशता की आपत्ति आती है। इसलिये लोहे की कील के तुल्य परमाणु ही वास्तविक हैं।

शङ्का—अवयवी द्रव्य को न मानने पर परस्पर मे असम्बद्ध परमाणु में स्थूल एकाकार बोध नही होगा।

समाधान—[1]जैसे तैमिरिक रोगी को आकाश मे असत् केश आदि भी दिखाई देते हैं वैसे ही हम लोगों को परमाणुओ में भी असत् स्थूल एकाकार प्रतीति होती है। स्थूल एकाकार प्रतीति भ्रान्त है। तथा, आप अवयवी को अनेक अवयव व्यापी और रूपरसाद्यात्मक मानते हैं, उसका ग्रहण अवयवी के समस्त अवयवो के ग्रहण होने पर ही हो सकता है। तो इस भागवर्ती अवयवो को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष से उसका ग्रहण होता है, या उस भागवर्ती अवयवो को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष से उसका ग्रहण होता है, अथवा उभय भागवर्ती अवयवो को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष से अवयवी का ग्रहण होता है ? पहला और दूसरा पक्ष ठीक नही है, क्योंकि इस भाग के अवयवो को ग्रहण करने वाला प्रत्यक्ष उस भाग के अवयवो को ग्रहण नही कर सकता। और पर भागवर्ती अवयवो को ग्रहण करने वाला प्रत्यक्ष इस भागवर्ती अवयवो को ग्रहण नही कर सकता। और दोनो भागो के अवयवो को ग्रहण करने वाला कोई प्रत्यक्ष नही है, अत तीसरा पक्ष भी ठीक नही है। इसी तरह रूप को ग्रहण करने वाला चाक्षुष प्रत्यक्ष रस को नही जानता और रस को जानने वाला रासन प्रत्यक्ष रूप को नही जानता। और रूप-रस दोनो को ग्रहण करने वाला प्रत्यक्ष स्वप्न में भी दृष्टिगोचर नही होता। अत. अवयवो का रूप-रसाद्यात्मकपना भी सिद्ध नही होता।

जैन.

विचारणीय यह है कि चक्षु आदि इन्द्रियो से उत्पन्न होने वाले ज्ञान मे एकत्व परिणति विशिष्ट उर्ध्व-अधो-मध्यभागात्मक, विशिष्ट आकार से युक्त घट

1 न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २३२।

आदि कहे जाने के योग्य रूप का प्रतिभास होता है या परस्पर में एक दूसरे से विलक्षण निरंश परमाणु के समूह का प्रतिभास होता है ? प्रथम पक्ष में इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले ज्ञान में अवयवी द्रव्य का अप्रतिभास कैसे हुआ ? ऊर्ध्व-अधो-मध्यभागात्मक, विशिष्ट आकार से युक्त एकत्व परिणति ही का तो नाम अवयवी है। यदि रूपादि से अतिरिक्त अवयवी का प्रतिभास न होने से अभाव मानते हो तो रूपादि के भी अभाव का प्रसङ्ग आता है, क्योंकि अवयवी को छोड़कर रूपादि का भी प्रतिभास नही होता। बेल, आँवला आदि अवयवी द्रव्यो से रहित उनके रूपादि की स्वप्न मे भी उपलब्धि नही होती। जो जिस रूप से निर्बाध ज्ञान में प्रतिभासित होता है उसको उसी रूप ही मानना चाहिए, जैसे नील को नील रूप से। निर्बाध ज्ञान में बेल, आँवला आदि का रूप एकत्व परिणति विशिष्ट अवयवी रूप से ही प्रतिभासित होता है, अत उसे उसी रूप ही मानना चाहिए। [1]अवयवी का ज्ञान निर्बाध नही है ऐसा कहना भी योग्य नही है, उसका बाधक कोई भी प्रमाण नही है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो के द्वारा एकत्व रूप से ही अर्थों का प्रतिभास होता है।

बौद्ध—अवयव की सयोगपूर्वक ही एकत्व परिणति होती है। और अवयवों का सयोग सर्वात्मना या एकदेश से नही बनता, यह ऊपर कहा है।

जैन—ऐसा कहने से आपका अभिप्राय क्या है ? इससे आपको अवयवो का सम्बन्धाभाव इष्ट है या सर्वदेश और एकदेश को छोड़कर प्रकारान्तर से सम्बन्ध इष्ट है ? प्रथम पक्ष में प्रत्यक्ष विरोध है, क्योकि अर्थों का अवयव सम्बन्ध प्रत्यक्ष में दृष्टिगोचर होता है। यदि अर्थों का अवयव सम्बन्ध नही है तो रस्सी, बाँस, दण्ड वगैरह के एकदेश को खींचने पर अन्य देशों का आकर्षण नही होना चाहिए, क्योंकि जो जिससे असम्बद्ध है उसके खीचने पर उससे अन्य का आकर्षण नहीं देखा जाता, जैसे घडे को खीचने पर दीवार नहीं खिचती। और आपके मतानुसार रस्सी, दण्ड, बाँस वगैरह का एक भाग दूसरे भाग से सम्बद्ध नहीं है, अत एक भाग के खीचने पर दूसरा भाग नहीं खिचना चाहिये। यदि सर्वदेश और एकदेश को छोडकर प्रकारान्तर से अवयवों का परस्पर में सम्बन्ध इष्ट है तो वह उचित ही है, क्योंकि स्निग्धता और रूक्षता के कारण अर्थों का सम्बन्ध पाया जाता है, सत्तु-जल वगैरह में स्निग्धता और रूक्षता को छोडकर कोई दूसरा प्रकार सम्बन्ध का हेतु नही देखा जाता।

---

१ न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २३३।

और आपने जो परमाणुओं को षडंशता की आपत्ति दी है वह क्या आरम्भक देशो की अपेक्षा से दी है या संयोग में हेतुभूत स्वभाव की अपेक्षा से ? प्रथम पक्ष में परस्पर विरोध है—परमाणु और छह अशों से आरब्ध ? यदि परमाणु छह अंशों से बना है तो वह अपने अवयवों की अपेक्षा से बडा परिमाण वाला होना चाहिए, और ऐसी स्थिति मे उसे परमाणु कैसे कहा जा सकता है ? जो सबसे कम परिमाण वाला होता है वही परमाणु कहा जाता है। दूसरे पक्ष में कोई दोष नही है, क्योकि दिशा भेद से अणुओं के सयोग मे हेतुभूत स्वभाव रूप अश परमाणुओ मे माने गये है। यदि ऐसा न हो तो जल धारण और जल लाने रूप अर्थक्रिया को करने वाले घटादि की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? लोहे की कीलों के तुल्य परमाणु तो परस्पर मे असम्बद्ध होने के कारण इस प्रकार की अर्थक्रिया नही कर सकते। शायद आप कहे कि देश प्रत्यासत्ति से विशिष्ट परमाणु अर्थक्रिया कर सकते हैं, अन्य नही, तो वह भी ठीक नही है, क्योकि अवयवी को नही मानने पर देश प्रत्यासत्ति भी नही बन सकती, देश भी तो अवयवी है। परस्पर मे विलक्षण निरश परमाणुओ का समूह रूप घटादि प्रत्यक्ष मे प्रतिभासित होता है, उक्त कथन से यह पक्ष भी खण्डित हो जाता है, क्योकि किसी को भी इन्द्रियजन्य ज्ञान मे उक्त प्रकार के परमाणुओं की प्रतीति नहीं होती, सब प्राणियो को स्थिर, स्थूल अर्थ की ही प्रतीति होती है। [1]तैमिरिक रोगी को भी परस्पर मे असम्बद्ध केश कभी भी दृष्टिगोचर नही होते। किन्तु सयोग विशेष से समूह अवस्था को प्राप्त केशो की ही प्रतीति होती है। तथा केश के दृष्टान्त से अवयवी का निषेध ठीक नही है, क्योकि केश भी तो अवयवी है।

तथा, यदि आप अवयवी नही मानते तो घट आदि का ज्ञान निर्विषय है या सविषय ? निर्विषय तो हो नही सकता, क्योकि 'मै घट को जानता हूँ' इस उल्लेख से सिद्ध है कि वह अपने विषय को जानता है। यदि सविषय है तो उसका विषय क्या है ? यदि परमाणु समूह उसका विषय है तो परमाणु समूह से क्या मतलब है ? परमाणु ही या उनका धर्म ? पहला विकल्प तो ठीक नही है, परमाणु तो अत्यन्त अणु होने से अतीन्द्रिय होते है, अत वे इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय नही हो सकते। और ऐसा होने से सभी का ग्रहण न हो सकने से कही पर प्रत्यक्ष व्यवहार ही नही होगा। गुण, कर्म, सामान्य वगैरह भी अवयवी रूप होने से ही प्रत्यक्ष के विषय होते हैं, यथा—गौ, शुक्ल, चलती है आदि।

---

१ न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २३४।

यदि कहोगे कि परमाणु समूह का मतलब परमाणुओं का संयोगरूप धर्म है सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि परमाणुओं का संयोग मानने पर अवयवी की मान्यता से नहीं बच सकते। तथा परमाणुओं का यह संयोग वास्तविक है या अवास्तविक ? यदि अवास्तविक है तो वह प्रत्यक्ष का विषय कैसे है ? क्योंकि जो अवास्तविक होता है वह प्रत्यक्ष का विषय नही होता, जैसे आकाश-पुष्प। यदि वह वास्तविक है तो हम लोगों के प्रत्यक्ष का विषय नहीं होना चाहिये, क्योकि वह निरतिशय परिमाण वाले द्रव्य का सयोग है। जो निरतिशय परिमाण वाले द्रव्य का सयोग होता है वह हम लोगो के प्रत्यक्ष का विषय नही होता, जैसे आकाश और परमाणु का सयोग।

बौद्ध—परमाणु सयोग हमारे प्रत्यक्ष का विषय नही है, किन्तु सचित परमाणु ही हमारे प्रत्यक्ष के विषय हैं।

जैन—परमाणु के सचय से क्या मतलब है ? देश प्रत्यासत्ति अथवा सयोग विशिष्टता ? दोनो ही पक्षो में अवयवी की सिद्धि होती है, क्योकि देश स्वय अवयवी है। तथा यदि हमारे प्रत्यक्ष के विषय परमाणु हैं तो 'एक' 'महान्' 'घट' इत्यादि प्रत्यय नही हो सकते, क्योंकि परमाणु महान् नही हैं तथा वे बहुत हैं।

बौद्ध—जैसे सेना और वन के बहुत से अग होते हैं, किन्तु दूर से उनका भेद ग्रहण न किये जाने से 'एक वन' 'एक सेना' इस प्रकार एक प्रत्यय उत्पन्न होता है, उसी तरह अत्यन्त निकटवर्ती परमाणुओं मे भेद ग्रहण न होने से 'महान् एक घट' इत्यादि प्रत्यय उत्पन्न होता है।

जैन—यह ठीक नही है। परमाणु अतीन्द्रिय है, अत उनकी उपलब्धि न होने से वे उस प्रकार के प्रत्यय के विषय नही हो सकते। उपलभ्यमान सेना के अग रथादि और वन के अंग ढाक आदि 'एक सेना' तथा 'एक वन' आदि अभेद प्रत्यय के विषय देखे गये हैं। दूसरे जब आप अवयवी को नहीं मानते तो सेना और वन प्रत्यय का दृष्टान्त नहीं दे सकते क्योंकि सेना और वन अवयवी हैं और अवयव के अभाव मे सेना और वन प्रत्यय कैसे बन सकते हैं ?

आपने स्थूल आदि प्रतीति को भ्रान्त कहा है, क्योंकि वह अतत् में तत् का ग्रहण करती है, किन्तु यह ठीक नही है, मुख्य का ग्रहण हुए विना अतत् में तत् का ग्रहण नही होता। जिसने मुख्य पुरुष को कभी नहीं देखा। उसे स्थाणु में पुरुष का बोध नही होता। आप स्थूलता वगैरह किसी वस्तु में मुख्य रूप से मानते ही नहीं, यदि माने तो अवयवी की सिद्धि का प्रसङ्ग आता है।

तथा, प्रत्यक्ष और स्मरणादि की सहायता से इस भाग और उस भागवर्ती अवयवों में रहने वाले अवयवी का ग्रहण होता है। 'मैंने जिसे देखा था उसे ही मैं छूता हूँ' इस प्रत्यय से अवयवी रूपाद्यात्मक सिद्ध होता है। रूप और स्पर्श के आधारभूत एक अर्थ को दो इन्द्रियों से ग्रहण किये बिना इस प्रकार का प्रत्यय नहीं बनता। अत प्रसिद्ध अवयवी का अपलाप करना युक्त नही है। अवयवी को न मानने पर परमाणु मात्र को भी नही माना जा सकता, क्योंकि अवयवी के सिवाय परमाणु की सिद्धि का अन्य कोई उपाय नही है। जो कार्य होता है वह अपने परिमाण से अल्प परिमाण वाले कारण से बनता है जैसे पट, वैसे ही द्वयणुक, अथवा अल्प परिमाण किसी वस्तु में अपनी अत्यन्त उन्नत सीमा तक रहता है वर्द्धनशील होने से, जैसे महापरिमाण। इन अनुमानो के द्वारा परमाणु की सिद्धि करने पर अवयवी के प्रसाद से ही परमाणु की सिद्धि होती हैं। तथा अवयवी को न मानने पर सभी अनुमानो के उच्छेद का प्रसङ्ग आता है, क्योंकि धर्मी, हेतु और दृष्टान्त अवयवी रूप होते हैं और आप अवयवी को मानते नही। यदि आप उनको मानते है तो अवयवी को मानना अनिवार्य है, क्योंकि ये सब परमाणु रूप नही होते।

अत अपने अवयवो से कथञ्चिद् अभिन्न अवयवी ही वास्तविक सिद्ध होता है, इसलिये वैशेषिको के द्वारा माना गया कार्य कारणभूत परमाणु द्वयणुक आदि अवयवी द्रव्य भी नही बनता।

१५. वैशेषिकाभिमत पदार्थ-विचार

१ द्रव्य-पदार्थ

[1]द्रव्यत्व के योग से द्रव्य होता है, ऐसा वैशेषिक का मत है। किन्तु द्रव्य के भाव को द्रव्यत्व कहते हैं। अत द्रव्य के ज्ञात होने पर द्रव्यत्व ज्ञात होता है और द्रव्यत्व के बिना द्रव्य का ज्ञान नही होता, क्योंकि वैशेषिक जाति द्वारा ही द्रव्यादि की प्रतिपत्ति मानते हैं। अत अन्योन्याश्रय दोष आता है।

तथा, किसी आकार वगैरह के द्वारा सामान्य की अभिव्यक्ति होती है, जैसे गोत्व की अभिव्यक्ति खुर-कूबड आदि के द्वारा होती है या घी-तेल वगैरह की अभिव्यक्ति तपाने पर गन्ध से होती है। द्रव्यत्व का तो कोई व्यञ्जक भी नही है।

वैशेषिक—क्रियावत्व गुणवत्व और समवायिकारणत्व द्रव्यत्व का व्यञ्जक है।

१ न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २३६-२३८।

जैन—तो ये समस्त व्यञ्जक हैं या एक-एक व्यञ्जक हैं? एक-एक व्यञ्जक तो हो नहीं सकते, क्योंकि क्रियावत्व आकाश आदि द्रव्य व्यक्तियों में असम्भव है, तत्काल उत्पन्न हुये घट वगैरह में गुणवत्व नहीं है। जिसने आत्मलाभ कर लिया है, ऐसा अवयवी गुणो की उत्पत्ति में समवायिकारण होता है। इसलिये तत्काल उत्पन्न हुये घट में गुण का अभाव वैशेषिकों ने माना है, अतः योगियो की उसमें द्रव्यबुद्धि नहीं होगी। समवायिकारणत्व भी द्रव्यत्व का व्यञ्जक नही है, क्योंकि वह भी सर्वदा नही रहता। अत. उक्त लक्षण में अव्याप्ति दोष आता है। तथा, जब कारण होता है तब समवायी नही होता, और जब समवायी होता है तब कारण नही होता। कार्य से पूर्वक्षण में कारण होता है, उस समय कार्य नही है, जिससे वह कार्य समवायी हो। और जिस समय कार्य समवायी होता है, उस समय कार्य के निष्पन्न हो जाने से कारण नही होता। इस तरह असम्भव नाम का लक्षण दोष है। 'जिस समय जिसमें जो रहे उस समय उसका वही लक्षण है' इस कथन के अनुसार भी तत्काल उत्पन्न हुये घटादि में असम्भव दोष आता ही है, क्योंकि उसमें द्रव्य का कोई भी लक्षण सम्भव नही है। तीनो को समुदाय रूप से द्रव्य का लक्षण मानने पर भी अव्याप्ति दोष रहता ही है, क्योंकि तत्काल उत्पन्न हुये घट वगैरह मे क्रियावत्व, गुणवत्व और समवायिकारणत्व—तीनों का ही अभाव है तथा आकाशादि में क्रियावत्व का अभाव है।

'द्रव्य गुणादि से भिन्न है, क्योंकि उसमे द्रव्यत्व का सम्बन्ध पाया जाता है' इत्यादि अनुमान भी ठीक नही है। धर्मी, साध्य और साधन वादि-प्रतिवादी—दोनो को प्रसिद्ध होते है, तभी अनुमान की प्रवृत्ति होती है। उक्त अनुमान में न तो नौ द्रव्य रूप धर्मी किसी को किमी प्रमाण से सिद्ध है, न उनमे रहने वाला द्रव्यत्व हेतु सिद्ध है और न भेद रूप साध्य ही सिद्ध है। अत उक्त अनुमान के द्वारा द्रव्य का गुणादि से भेद-व्यवहार सिद्ध नही होता। तथा पृथिवी आदि का परस्पर मे अत्यन्त भेद भी असिद्ध है, क्योंकि हम जैन उन्हे पुदगलात्मक होने से कथञ्चिद् अभिन्न मानते है।

(क-घ) पृथिवी, जल, तेज और वायु-द्रव्य

वैशेषिक .

[1]'यदि पृथिवी, जल, तेज, और वायु को एक पुद्गलात्मक माना जायेगा तो उसमें प्रतिनियत गन्ध आदि गुणों की आधारता का नियम नही बन सकता,

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २३८।

क्योंकि जैन लोग पुद्गलों को रूप, रस, गन्ध और स्पर्शात्मक मानते हैं। अतः यदि पृथिवी आदि चारों पौद्गलिक हैं तो उन सभी में गन्धादि चारों गुणों की प्रतीति होनी चाहिये ? किन्तु ऐसी बात नहीं है, क्योंकि चारों में गन्धादि चारों गुण प्रतिनियत रूप से ही पाये जाते हैं। कहा है—गन्ध पृथिवी में ही होती है, जल में रस होता है, तेज में रूप होता है और वायु में स्पर्श होता है। तथा यदि पृथिवी आदि चारों एक हैं तो उनका पृथिवीत्व आदि प्रतिनियत जाति से सम्बन्ध नही बन सकता। किन्तु पृथिवी में ही पृथिवीत्व पाया जाता है तथा जलादि में जलत्व आदि पाये जाते हैं।

जैन :

पृथिवी आदि में प्रतिनियत गन्धादि गुणो की आधारता का नियम आप उनकी सत्ता की अपेक्षा मानते है या उनकी अभिव्यक्ति की अपेक्षा मानते हैं ? पहला विकल्प तो अयुक्त है, क्योकि पृथिवी की तरह जलादि में भी गन्धादि चारो गुणों का सद्भाव होने से प्रतिनियत गन्धादि गुणो की आधारता का नियम नही बन सकता। और उनका सद्भाव अनुमान से सिद्ध है, तथा हि—जलादि गन्धादिमान् हैं, स्पर्शवान् होने से। जो स्पर्श वाला होता है वह गन्धादिमान् होता है जैसे पृथिवी और जलादि स्पर्शवान् हैं अत गन्धादिमान् भी हैं। जो गन्धादिमान् नही होता वह स्पर्शवान् भी नही होता, जैसे आत्मा, आकाश आदि।

[1]यदि पृथिवी आदि मे अभिव्यक्ति की अपेक्षा से प्रतिनियत गन्धादि गुणों की आधारता का नियम मानते हैं तो मानिये, किन्तु इससे वे द्रव्यान्तर सिद्ध नही होते। जल से सयुक्त अग्नि में भासुर रूप अनभिव्यक्त है और स्वर्ण से युक्त तेज मे उष्णस्पर्श अनभिव्यक्त है, एतावता वे दोनो अभिव्यक्त भासुर रूप और उष्ण-स्पर्श वाली अग्नि से भिन्न द्रव्यान्तर नही हैं, अन्यथा द्रव्यो की सख्या के व्याघात का प्रसङ्ग आता है। इसी तरह पृथिवी आदि में भी अनभिव्यक्त होते हुये भी स्पर्शादि गुण समान रूप से पाये जाते हैं, अत वे परस्पर में अत्यन्त भिन्न द्रव्यान्तर नही है।

पृथिवीत्व आदि जाति का सम्बन्ध भी सर्वथा द्रव्य भेद का साधक नही है। उससे तो व्यक्ति भेद ही सिद्ध होता है, तत्त्व भेद नही। अन्यथा क्षत्रियत्व आदि अवान्तर जाति के सम्बन्ध से आत्माओ को भी तत्त्वान्तरत्व का प्रसङ्ग आने से द्रव्य की सख्या में व्याघात आयेगा। यदि जाति भेद के कारण पृथिवी आदि में

१ न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २३९।

सर्वथा भेद मानते हैं तो उनमें परस्पर में उपादानोपादेय भाव नहीं हो सकता। जिनमें जाति भेद के कारण अत्यन्त भेद होता है उनमें परस्पर में उपादानोपादेय भाव नही होता, जैसे आत्मा और पृथिवी आदि में। आप पृथिवी आदि में भी अत्यन्त भेद मानते हैं, अतः उनमें परस्पर में उपादानोपादेय भाव नहीं हो सकेगा, किन्तु वह देखा जाता है। चन्द्रकान्त मणि से जल की और जलादि से मोती की उत्पत्ति देखी जाती है, अत. उनमें तत्त्वान्तर रूप से भेद नही है। जिनका परस्पर में उपादानोपादेय भाव होता है, उनका परस्पर में अत्यन्त तत्त्वान्तर रूप से भेद नही होता, जैसे तन्तु-पट वगैरह में नहीं है। इसी तरह पृथिवी आदि में भी उपादानोपादेय भाव होने से सर्वथा तत्त्वान्तरपना नही है।

वैशेषिक—चन्द्रकान्त के अन्दर रहने वाले जल से ही जल की उत्पत्ति होती है।

जैन—नही, क्योंकि चन्द्रकान्त मे जल की सत्ता सिद्ध करने वाले प्रमाण का अभाव है।

वैशेषिक—विजातीय से विजातीय की उत्पत्ति होने पर तत्त्व व्यवस्था के अभाव का प्रसङ्ग आता है, अत चन्द्रकान्त मे रहने वाले जल से ही जल की उत्पत्ति मानना चाहिये।

जैन—तब तो मिट्टी के पिण्ड के अन्दर रहने वाले घट से घट की उत्पत्ति मानिये। और ऐसा मानने पर सांख्यदर्शन की सिद्धि होती है। अत. जैसे मृत्पिण्ड में घट का अभाव है, वैसे ही चन्द्रकान्त में जल का अभाव है। इसलिये पृथिवी वगैरह मे पर्याय भेद मे भेद है और द्रव्य रूप से अभेद है। इस तरह वैशेषिक मत मे पृथिवी आदि के भेद से चार प्रकार का द्रव्य नही बनता। और न आकाश द्रव्य का सद्भाव ही उस रूप से सिद्ध होता है, जिस रूप से वह माना गया है।

(ङ) आकाश-द्रव्य

वैशेषिक

[1]आकाश द्रव्य के सद्भाव का साधक प्रमाण इस प्रकार है—शब्द किसी के आश्रित है, गुण होने से रूपादि की तरह। और शब्द गुण है, द्रव्य और कर्म से भिन्न होते हुए सत्तावाला होने से। जो-जो ऐसा होता है वह गुण है,

---

१ न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २४०।

जैसे रूपादि। शब्द भी वैसा ही है, अत वह गुण है। शब्द द्रव्य और कर्म से भिन्न है, यह बात असिद्ध नही है। तथा हि—शब्द द्रव्य नहीं है, एक द्रव्य होने से, जैसे रूपादि। कोई द्रव्य तो अद्रव्य (जिसका समवायिकारण द्रव्य नहीं होता) होता है नित्य होने से, जैसे आत्मा आदि। कोई द्रव्य अनेक द्रव्य होता है कार्य होने से, जैसे घट आदि। किन्तु शब्द एक द्रव्य है सामान्य-विशेषवान् होते हुए बाह्य एक इन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष होने से, जैसे रूप आदि। यदि 'सामान्य-विशेषवान्' केवल इतना ही कहे तो परमाणु आदि से व्यभिचार आता है, अत उसकी निवृत्ति के लिए 'इन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष होने से' कहा। फिर भी घटादि मे व्यभिचार आता है, इसलिये उसकी निवृत्ति के लिए 'एक इन्द्रिय के द्वारा' आदि कहा। फिर भी आत्मा से व्यभिचार आता है, अत उसकी निवृत्ति के लिए बाह्य विशेषण दिया है। शब्द कर्म भी नही है, क्योंकि न वह सयोग मे कारण होता है और न विभाग मे। तथा शब्द न द्रव्य है और न कर्म, अनित्य होते हुये नियम से चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय न होने से। अत गुण होने से शब्द किसी के आश्रित है। और जो इसका आश्रय है वह आकाश है। वह आकाश एक और व्यापक है तथा परमाणु की तरह नित्य है। उस आकाश का लिङ्ग शब्द है, उसकी उत्पत्ति की प्रक्रिया इस प्रकार है—

सयोग से, विभाग से और शब्द से शब्द की उत्पत्ति होती है। सयोग से शब्द की उत्पत्ति मे आकाश समवायिकारण है, भेरी आदि आकाश सयोग असमवायिकारण है, और भेरी और दण्ड का सयोग निमित्त कारण है। विभाग से शब्द की उत्पत्ति में आकाश समवायिकारण है, बाँस के आधे भाग का आकाश से विभाग असमवायिकारण है और बाँस का विभाग निमित्तकारण है। तथा शब्द से शब्द की उत्पत्ति मे आकाश समवायिकारण है, पहला शब्द असमवायिकारण है और अदृष्ट आदि निमित्त कारण है।

जैन

उक्त अनुमान से आप वैशेषिक लोग शब्द को आश्रय मात्र का आश्रित सिद्ध करते है या नित्य, एक, व्यापी आश्रय का आश्रित सिद्ध करते हैं? प्रथम पक्ष में उक्त अनुमान से आकाश-द्रव्य की सिद्धि कैसे हो सकती है, किन्तु आश्रय मात्र की ही सिद्धि होती है और उसमे हमें कोई आपत्ति नही है, क्योंकि पुद्गल का परिणाम होने से हम शब्द को पुद्गल के आश्रित मानते है। दूसरे पक्ष में दृष्टान्त साध्य विकल होता है, क्योंकि रूपादि नित्य एक और व्यापक द्रव्य के आश्रित नही है, अत शब्द का गुण होना असिद्ध है, क्योंकि उसके साधक प्रमाण का

अभाव है। प्रत्युत द्रव्य का लक्षण पाया जाने से शब्द द्रव्य ही है। जो गुणवान् और क्रियावान् हो वह द्रव्य है। यह लक्षण द्रव्य में पाया जाता है। तथा हि—शब्द गुणवान् है, स्पर्श अल्पत्व महत्त्व परिमाण सख्या सयोग का आश्रय होने से। तथा शब्द स्पर्शवान् है, स्वसम्बद्ध अर्थान्तर में अभिघात का हेतु होने से। यह बात असिद्ध नही है, कांसे के पात्र के शब्द का सम्बन्ध होने पर श्रोत्र में अभिघात की प्रतीति होती है। शायद कहा जाये कि शब्द के साथ जो वायु होती है उससे श्रोत्र में अभिघात की प्रतीति होती है, किन्तु ऐसा कहना ठीक नही है, क्योंकि वह अभिघात शब्द के होने पर ही होता है और शब्द के नही होने पर नहीं होता। फिर भी यदि उसका हेतु अन्य को माना जायेगा तो फिर किसी मे कार्य-कारणभाव का नियम ही नही बनेगा। तथा शब्द स्पर्शवान् है, क्योंकि स्पर्शवान् पदार्थ के द्वारा उसका अभिघात होता है। इससे शब्द में स्पर्शगुण का अस्तित्व सिद्ध होता है, यह भी असिद्ध नही है, क्योंकि प्रतिवायु के द्वारा तथा भित्ति आदि के द्वारा शब्द का अभिघात देखा जाता है। अत शब्द का स्पर्शवान् होना असिद्ध नही है।

तथा अल्पत्व और महत्त्व परिमाण का आश्रय होना भी असिद्ध नही है, क्योंकि शब्द मे अल्पत्व और महत्त्व की प्रतीति होती है। 'अल्प शब्द' 'महान् शब्द'—ऐसी प्रतीति बच्चो तक को होती है। इसी तरह 'एक शब्द, दो शब्द, बहुत शब्द—इस प्रतीति से शब्द में सख्यावत्व भी सिद्ध होता है। यदि कहोगे कि उपचार से शब्द मे सख्यावत्व की प्रतीति होती है तो कारणगत सख्या का शब्द मे उपचार किया जाता है, या विषयगत सख्या का? यदि कारणगत सख्या का उपचार किया जाता है तो समवायिकारणगत या कारणमात्रगत सख्या का उपचार किया जाता है? प्रथम पक्ष मे सर्वदा 'एक शब्द' ऐसा ही व्यवहार होगा, क्योंकि शब्द का समवायिकारण आकाश एक है। दूसरे पक्ष में सर्वदा 'बहुत से शब्द' ऐसा ही व्यवहार होगा, क्योंकि कारणमात्र बहुत है। विषयगत सख्या के उपचार मे तो गगन, आकाश और व्योम आदि शब्द बहुत नही कहे जायेंगे, क्योंकि उनका विषय एक है। और पशु बहुत होते हैं अत. गो शब्द को स्वप्न में भी एक नहीं कहा जायेगा। अत शब्द सख्या का आश्रय है यह बात असिद्ध नही है। शब्द सयोग का आश्रय है, यह भी असिद्ध नही है, क्योंकि वायु वगैरह से शब्द का अभिघात देखा जाता है। वायु आदि के

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २४४।

द्वारा जिसका अभिघात होता है, वह सयोग का आश्रय होता है, जैसे धूलि वगैरह। देखा जाता है कि देवदत्त के प्रति आता हुआ शब्द प्रतिकूल वायु से दूसरी ओर चला जाता है। इसी से अन्य दिशा में स्थित शब्द को अन्य दिशा में स्थित व्यक्ति ग्रहण कर लेता है।

वैशेषिक—देवदत्त की ओर आने वाली गन्ध प्रतिकूल वायु से लौट जाती है, किन्तु इसका यह मतलब नही है कि वायु का गन्ध से सयोग हुआ, क्योंकि गन्ध गुण है और गुण मे गुण नही रहता।

जैन—वायु गन्धवान् द्रव्य को ही लौटा देती है, केवल अकेला गुण तो निष्क्रिय है, अत उसका आना और लौटना नही हो सकता। इसलिये शब्द सयोग का आश्रय है। [1]शब्द मे क्रियावत्व भी असिद्ध नही है, क्योंकि वह पूर्वदेश को छोडकर देशान्तर मे पाया जाता है। शब्द वक्ता के मुखदेश को छोडकर श्रोता के कर्णप्रदेश में पाया जाता है—यह बात सब लोग जानते है।

वैशेषिक—आकाश और शख तथा मुख के सयोग आदि से उत्पन्न हुआ प्रथम शब्द आकर श्रोत्र से सम्बन्ध नही करता, किन्तु जैसे लहर से लहर उत्पन्न होती है वैसे ही शब्द से उत्पन्न होता हुआ शब्द आकर श्रोत्र से सम्बन्ध करता है तब शब्द क्रियावान् कैसे हुआ ?

जैन—इस तरह तो सर्वत्र क्रिया के उच्छेद का प्रसङ्ग आता है। बाण वगैरह भी पूर्व पूर्व समान जातीय क्षण से उत्पन्न होकर लक्ष्य देश में पहुँचते हैं, जो छोडा जाता है वही बाण लक्ष्य तक नही जाता, ऐसी भी कल्पना की जा सकती है। यदि कहोगे कि प्रत्यभिज्ञान से बाण में स्थायित्व की प्रतीति होती है अत उसमें उक्त कल्पना नही की जा सकती, तो शब्द में भी यह बात समान है। 'उपाध्याय का कहा हुआ सुनता हूँ' या 'शिष्य का कहा हुआ सुनता हूँ' इस प्रकार एकत्व को ग्रहण करने वाले प्रत्यभिज्ञान की शब्द मे भी प्रतीति होती है। यदि कहे हुए शब्द से सुना गया शब्द भिन्न होता तो 'उपाध्याय के द्वारा कहे गये शब्द से उत्पन्न हुआ उसके सदृश अन्य शब्द सुनता हूँ' ऐसी प्रतीति होना चाहिये थी। शायद कहा जाये कि जैसे नाखून और केश कट जाने के बाद पुन उग आते हैं और पहले के समान होने से उसमे एकत्व की प्रतीति होती है, उसी तरह शब्द में भी जो प्रत्यभिज्ञान होता है वह भी ऐसा ही है, किन्तु

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २४५।

यह बात तो बाण वगैरह के विषय में भी कही जा सकती है और ऐसा होने पर सभी पदार्थों के क्षणिक सिद्ध होने से सौगत मत की सिद्धि का प्रसङ्ग आता है।

[1]तथा यदि वीची तरंग न्याय से शब्द की उत्पत्ति मानते हैं तो वक्ता के प्रथम व्यापार से एक शब्द उत्पन्न होता है या अनेक ? यदि एक शब्द उत्पन्न होता है तो नाना दिशाओं में एक साथ अनेक शब्दों की उत्पत्ति कैसे होगी ? तालु आदि व्यापार से जनित सर्व दिशा सम्बन्धी वायु और आकाश का संयोग असमवायिकारण और व्यापक आकाश रूप समवायिकारण के होने से सर्व दिशा में अनेक शब्दों की उत्पत्ति होने में अविरोध है तो शब्द आरम्भक नहीं हो सकता। क्योंकि जैसे प्रथम शब्द शब्द के द्वारा आरब्ध नही होता, किन्तु तालु आदि के व्यापार से उत्पन्न होने वाली वायु और आकाश के सयोग रूप असमवायिकारण से उत्पन्न होता है, वैसे ही सर्व दिशा सम्बन्धी शब्दान्तर भी उक्त असमवायिकारण से ही उत्पन्न हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में 'संयोग से, विभाग से और शब्द से शब्द की उत्पत्ति होती है' यह कथन नही बनता।

वैशेषिक—प्रथम शब्द अन्य शब्दो का असमवायिकारण है, क्योंकि वह उनके समान है। अन्यथा उससे विसदृश शब्दान्तर की उत्पत्ति का प्रसङ्ग आता है।

जैन—तब तो प्रथम शब्द भी अन्य शब्द से उत्पन्न होगा और वह भी उससे पूर्व के अन्य शब्द से उत्पन्न होगा, इस तरह शब्द की सन्तान अनादि हो जायेगी। यदि प्रथम शब्द प्रतिनियत वक्ता के व्यापार से उत्पन्न होकर अपने समान अन्य शब्दो को उत्पन्न करता है तो फिर असमवायिकारण रूप से प्रथम शब्द की कल्पना से क्या लाभ है ? प्रतिनियत वक्ता के व्यापार से और उससे उत्पन्न हुये वायु और आकाश के सयोग से अपने समान अपरापर शब्दों की उत्पत्ति हो सकती है, अत. एक शब्द शब्दान्तर का आरम्भक नही हो सकता।

न अनेक शब्द ही शब्दान्तर के आरम्भक हो सकते हैं, क्योंकि एक तालु आदि आकाश सयोग से अनेक शब्दों की उत्पत्ति नही हो सकती। और [2]एक साथ एक वक्ता का अनेक तालु आदि आकाश सयोग सम्भव नही है, क्योंकि प्रयत्न तो एक ही है। और प्रयत्न भेद के बिना तालु आदि की क्रिया पूर्वक तालु आदि आकाश सयोग होता नही, जिससे अनेक शब्दो की उत्पत्ति सम्भव हो।

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २४६।

२. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ ३४७।

तथा यदि शब्द आकाश का गुण है तो हमें उसका प्रत्यक्ष नही होना चाहिये, क्योंकि आकाश अत्यन्त परोक्ष है। जो अत्यन्त परोक्ष गुणी का गुण होता है वह हमारे प्रत्यक्ष का विषय नही होता, जैसे परमाणु का रूप। शब्द के भी अत्यन्त परोक्ष आकाश का गुण माना जाता है।

और जो यह कहा कि शब्द द्रव्य नही है एक द्रव्य होने से। इसमे 'एक द्रव्य होने से' यह हेतु असिद्ध है, क्योकि शब्द को गुणत्व सिद्ध होने पर तथा एक द्रव्य आकाश मे ही समवाय सम्बन्ध से उसका रहना सिद्ध होने पर 'एक द्रव्यत्व' सिद्ध हो सकता है, उसका ऊपर खण्डन कर आए है। तथा 'शब्द अनेक द्रव्य है, हमारे प्रत्यक्ष होते हुए स्पर्शवान् होने से' इस अनुमान से एक द्रव्यत्व का निराकरण हो जाता है।

शब्द की उत्पत्ति की जो प्रक्रिया ऊपर बतलाई है कि आकाश समवायि-कारण है आदि, वह भी इससे निरस्त हो जाती है, क्योकि शब्द के आकाश गुण होने का निषेध कर देने पर आकाश शब्द का समवायिकारण नही हो सकता।

अब शब्द को पौद्‌गलिक ही मानना चाहिए। तथा हि—शब्द पौद्‌गलिक है, गुणवान् और क्रियावान् होते हुए हमारी बाह्य इन्द्रिय का प्रत्यक्ष होने से। जो ऐसा होता है वह पौद्‌गलिक होता है, जैसे घट। शब्द भी वैसा ही है, अत. वह पौद्‌गलिक है। इसलिये शब्द आकाश का लिङ्ग नही है और इसलिये शब्द के आधार पर आकाश द्रव्य की सिद्धि नही हो सकती। किन्तु एक साथ समस्त द्रव्यो को अवगाह दान रूप कार्य से ही आकाश की सिद्धि होती है। एक साथ समस्त द्रव्यो का अवगाह एक सामान्य कारण की अपेक्षा रखता है, निखिल द्रव्यो का एक साथ अवगाह होने से। जैसे एक तालाब के जल मे रहने वाले मत्स्यो आदि का अवगाह।

(च) काल-द्रव्य

वैशेषिक :

[1]दिशाकृत और देशकृत 'पर' 'अपर' आदि प्रत्ययो से विपरीत पर अपर आदि विशिष्ट प्रत्यय विशिष्ट कारणपूर्वक होते है, विशिष्ट प्रत्यय होने से। जो विशिष्ट प्रत्यय होता है वह विशिष्ट कारण पूर्वक देखा गया है, जैसे 'दण्डी' आदि प्रत्यय। और पर, अपर, यौगपद्य, चिर, जल्दी आदि प्रत्यय विशिष्ट प्रत्यय है।

जिस दिशा और देश में स्थित पिता में परत्व व्यवहार होता है उसी दिशा और देश में स्थित पुत्र में अपरत्व व्यवहार होता है। और जिस दिशा और देश में स्थित पुत्र में अपरत्व व्यवहार होता है, उसी दिशा और देश में स्थित पिता में परत्व व्यवहार होता है। इसलिये इन व्यवहारों में दिशा और देश से भिन्न कोई अन्य निमित्त होना चाहिए। उसके बिना यह व्यवहार सम्भव नहीं। शायद कोई कहे कि इस प्रकार के परापर व्यवहार में सूर्य आदि का गमन तथा केशों का सफेद होना आदि निमित्त हैं, किन्तु ऐसा कहना युक्त नही है, क्योंकि यह व्यवहार उससे विलक्षण है। कहा है—

अपरस्मिन् परं युगपदयुगपच्चिर क्षिप्रमिति काललिङ्गानि।[1]

अपर में पर, युगपद्, अयुगपद्, देर मे, जल्दी—ये सब काल के लिङ्ग (चिह्न) हैं। आकाश की तरह काल भी एक, नित्य और व्यापक है। उस काल-द्रव्य को अन्य द्रव्यो से भिन्न करने में अथवा 'काल' ऐसा व्यवहार करने मे पर-अपर आदि प्रत्यय ही लिङ्ग है।

जैन :

उक्त पर-अपर आदि प्रत्यय रूप लिङ्ग से काल को एक द्रव्य स्वरूप सिद्ध करते है या अनेक द्रव्य स्वरूप ? पहला पक्ष तो ठीक नही है, क्योकि विचार करने पर काल-द्रव्य नित्य, निरंश और एक रूप सिद्ध नही होता। जो सर्वथा नित्य, निरंश और एक स्वभाव होता है वह अनित्य, विभिन्न देशवर्ती और अनेक स्वभाव कार्य नही कर सकता। अन्यथा नित्य, निरंश और एक स्वभाव ब्रह्म भी अनेक प्रकार के कार्य कर सकेगा और इस प्रकार ब्रह्माद्वैत की सिद्धि का प्रसङ्ग आयेगा। तथा यौगपद्य आदि प्रत्यय भी नही बन सकेंगे। जो कार्य एक काल में किये जाते हैं उन्हें 'युगपत् कृत' कहा जाता है। यदि काल नित्य और एक रूप है तो उससे होने वाले कार्यों की एक साथ उत्पत्ति का प्रसङ्ग आने से कोई कार्य 'अयुगपत् कृत' नही कहा जायेगा। जो कार्य बहुत काल में किया जाता है उसे 'चिरकाल कृत' कहा जाता है और जो स्वल्पकाल में किया जाता है उसे 'जल्दी किया गया' कहा जाता है। काल को सर्वथा नित्यादि रूप मानने पर ये दोनों प्रत्यय नही बन सकते।

---

१. वैशेषिकसूत्र, २।२।६।

२. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २५२।

तथा, जैसे पृथिवी या प्रकाश के बहुत से अवयवो से अन्तरित वस्तु को दूर, विप्रकृष्ट या पर कहते हैं और थोडे अवयवो से अन्तरित वस्तु को निकट या अपर कहते हैं, उसी तरह दिन-रात आदि बहुत से कालक्षणों से अन्तरित वस्तु को दूर और पर कहते हैं तथा थोडे कालक्षणों से अन्तरित वस्तु को निकट और पर कहते हैं। बहु और थोडापन गुरुत्व और परिमाण की तरह आपेक्षिक है, काल को एक मानने पर वह नही बन सकता। अत. जैसे गुरुत्व और परिमाण वगैरह को अनेक गुण रूप मानते हैं वैसे ही काल को अनेक द्रव्य रूप मानना चाहिये।

[1]तथा यदि काल नित्य, निरश, एक द्रव्य रूप है तो अर्थों में भूत, भविष्यत् और वर्तमानता नही बन सकती, क्योंकि अतीत, अनागत और वर्तमान रूप से काल भेद नहीं है। काल मे भूतादि का भेद होने पर भी उसके सम्बन्ध से अर्थों मे भूतादि का व्यवहार होता है, अन्यथा नही। किन्तु नित्य, निरश, एक रूप होने से काल में भूतादि व्यवहार सिद्ध नही होता। क्योंकि जो नित्य, निरश, एक रूप होता है उसमे अतीत आदि भेद नही होता, जैसे परमाणु मे।

जरा देर के लिये यह मान भी लिया जाये कि काल में अतीत आदि भेद होता है तो फिर प्रश्न होता है कि वह स्वत होता है या अन्य अतीत आदि काल के सम्बन्ध से, अथवा अतीत आदि क्रिया के सम्बन्ध से ? स्वत तो हो नही सकता, क्योंकि निरशता और भेदरूपता मे विरोध है। दूसरा पक्ष भी सम्भव नही है, क्योंकि काल के एक रूप होने से अन्य अतीत आदि काल असम्भव है, सम्भव भी हो तो अनवस्था दोष आता है, क्योंकि उस अन्यकाल में भी अतीत आदि व्यवहार अन्य अतीत आदि काल के सम्बन्ध से ही हो सकता है। यदि कहोगे कि अतीत आदि क्रिया के सम्बन्ध से काल में अतीत आदि व्यवहार होता है तो क्रिया मे अतीत रूपता आदि की सिद्धि कैसे करोगे ? अन्य अतीत आदि क्रिया के सम्बन्ध से या अतीत आदि काल के सम्बन्ध से ? प्रथम विकल्प में अनवस्था दोष आता है और दूसरे विकल्प में अन्योन्याश्रय दोष। जब क्रिया मे अतीतादि रूपता सिद्ध हो तो काल मे अतीतादि रूपता सिद्ध हो, और जब काल में अतीतादि रूपता सिद्ध हो तो उसके सम्बन्ध से क्रिया में अतीतादि रूपता सिद्ध हो।

तथा काल मे अतीतादि भेद मानकर भी यदि काल को सर्वथा एक मानते हो तो स्ववचन विरोध आता है, क्योंकि आप स्वय उसमें अतीत आदि रूप से

१ न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २५३।

भेद मानते हैं। लोक विरोध भी आता है, क्योंकि लौकिक जन सुबह, दोपहर, सन्ध्या के भेद से और शीत-ऋतु, ग्रीष्म-ऋतु, वर्षा-ऋतु आदि के भेद से काल को भेद रूप मानते हैं। तथा जैसे पृथिवी आदि द्रव्य परमाणु और कार्य के भेद से अनेक द्रव्य हैं, जीव द्रव्य एकेन्द्रिय आदि के भेद से अनेक द्रव्य है, वैसे ही समय, मुहूर्त आदि के भेद से काल-द्रव्य भी अनेक है। मुख्य और गौण की अपेक्षा भी काल-द्रव्य अनेक है। मुख्य काल के बिना समय, आवली आदि व्यवहार-काल नहीं हो सकता, जैसे मुख्य सत्ता के बिना उपचरित सत्त्व सम्भव नहीं है।

वह मुख्यकाल अनेक द्रव्य है। इसी से प्रत्येक आकाश-प्रदेश में व्यवहार काल भिन्न-भिन्न पाया जाता है, क्योंकि कुरुक्षेत्र और लङ्का के क्षेत्रों में दिवस आदि का भेद देखा जाता है। अत प्रत्येक लोकाकाश के प्रदेश पर कालाणु भिन्न-भिन्न माना गया है। कहा है—

> लोयागासपदेशे एक्किके जे ठिया हु एक्किका।
> रयणाण रासीविव ते कालाणु मुणेयव्वा॥[1]

लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रत्नो की राशि की तरह जो एक-एक स्थित है, वे कालाणु जानने चाहिये।

कालाभाववादी :

[2]विचार करने पर कालद्रव्य का अस्तित्व ही सिद्ध नही होता, तब आप जैन उसके एक द्रव्य होने का खण्डन करके उसे अनेक द्रव्य मानने का व्यर्थ ही क्यों प्रयास करते है? अतीत आदि भेदों से भिन्न काल कोई वस्तु नही है जिसके सम्बन्ध से पदार्थों में अतीत-आदिपना सम्भव हो, क्योंकि काल में अतीत आदि भेद न स्वत हो सकता है और न पर से हो सकता है। यदि काल में अतीत आदि भेद स्वत. है तो पदार्थों में भी अतीत आदि भेद स्वत. क्यो नहीं है? काल की कल्पना ही बेकार है। अतीत आदि कालान्तर के सम्बन्ध से अथवा अतीत आदि क्रिया के सम्बन्ध से यदि काल में अतीतता आदि मानते हो तो पूर्वोक्त दोष आते हैं। अतः यह अतीत आदि व्यवहार प्रमाण सापेक्ष होता है। प्रमाण के द्वारा एक साथ अनुभूयमान वस्तु को वर्तमान कहते हैं। क्रम से अनु-

---

१ द्रव्यसंग्रह, गाथा २२।
मूलग्रन्थ मे 'मुणेयव्वा' के स्थान पर 'असंखदव्वाणि' पाठ मिलता है।
२. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २५४।

भूयमान जो वस्तु पूर्वक्षणवर्ती होती है उसे भूत कहते हैं और उत्तरक्षणवर्ती को भविष्यत् कहते हैं।

जैन[1] :

आपके कथन के अनुसार काल द्रव्य का अस्तित्व क्यों नही सिद्ध होता ? क्या उसके ग्राहक प्रमाण का अभाव है या उसमें अतीत आदि भेद सम्भव नही हैं ? प्रथम पक्ष तो ठीक नही है, पर-अपर आदि प्रत्यय रूप लिङ्ग से उत्पन्न होने वाले अनुमान प्रमाण से ही काल द्रव्य के अस्तित्व की सिद्धि होती है। पर-अपर आदि प्रत्यय न तो निमित्त के बिना होते हैं, क्योंकि वे अनित्य हैं, और न वे प्रत्यय जिस किसी भी निमित्त से होते हैं। न दिशा, गुण और जाति के निमित्त से होते है। क्योकि अपर दिशा मे स्थित गुण रहित नीच जाति के वृद्ध को बडा कहा जाता है और पर दिशा में स्थित गुणवान् उच्च जातीय युवा को छोटा कहा जाता है।

पूर्वपक्षवादी—उक्त व्यवहार मे निमित्त सूय वगैरह की क्रिया है। जन्म से लेकर एक के सूर्यभ्रमण बहुत से हो चुके हैं इसलिये उसे बडा कहते है। दूसरे के सूर्य भ्रमण कम हुये है इसलिये उसे छोटा कहते है।

जैन—तब यौगपद्य आदि प्रत्यय कैसे होगे ? क्योकि काल के सिवाय अन्य कोई निमित्त उनका नही बनता। इसी तरह क्रम व्यवहार भी कैसे होगा ? अत काल को मानना चाहिये। काल के बिना देर और जल्दी का व्यवहार भी नही बनता। एक ही कर्त्ता किसी कार्य को देर से करता है और किसी कार्य को जल्दी करता है। अत देर में किया और जल्दी किया—ये दोनो व्यवहार किसी विशिष्ट निमित्त की अपेक्षा करते है और वह निमित्त काल है। इस तरह काल द्रव्य की सिद्धि होती है। अत ग्राहक प्रमाण का अभाव होने से काल का अभाव सिद्ध नही होता।

दूसरा पक्ष भी ठीक नही है, क्योकि काल मे अतीत आदि भेद स्वभावत ही होता है। किन्तु इससे पदार्थों मे भी अतीत आदि भेद स्वभावत नही माना जा सकता, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ का स्वभाव प्रतिनियत होता है। एक के स्वभाव को सब पर नही लादा जा सकता। यदि ऐसा किया जायेगा तो दीपक को स्वय ही स्वप्रकाशक देखकर घट वगैरह को भी स्वप्रकाशकता का प्रसङ्ग

---

१ न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २५५।

आयेगा और ऐसी स्थिति में पदार्थों की प्रतिनियत स्वरूप व्यवस्था का लोप हो जायेगा ।

तथा आपने जो यह कहा है कि अतीत आदि भेद व्यवहार प्रमाण सापेक्ष होता है सो 'प्रमाण के द्वारा एक साथ अनुभूयमानता' का क्या अर्थ है ? यदि इसका अर्थ 'प्रमाण के साथ एककालतया अनुभूयमानता' है तो स्ववचन विरोध का अनुषग आता है, क्योंकि ऐसा कहने पर आपने अपने वचन द्वारा ही काल को स्वीकार कर लिया । काल को स्वीकार किये बिना 'एककालतया' कह ही नही सकते । तथा 'जो पूर्वक्षण में हो उसे भूत कहते हैं' इत्यादि वचन भी काल को माने बिना नही कह सकते, क्योंकि 'क्षण' शब्द से काल को ही कहा गया है । अत पदार्थों मे जो वर्तमान आदि व्यवहार होता है वह काल को लेकर ही होता है ।

तथा काल को न मानने पर लोक प्रतीति का भी विरोध होता है, क्योंकि लोक मे वसन्त आदि कालो की प्रतीति देखी जाती है । सभी व्यवहारीजन ऐसा कहते सुने जाते हैं कि निश्चित काल मे ही अमुक वनस्पति आती है या फूलती-फलती है । समय, मुहूर्त आदि के व्यवहार से भी काल की सिद्धि होती है । अत. अनेक द्रव्य रूप काल वास्तविक ही है । इसलिये वैशेषिक के द्वारा कल्पित काल-द्रव्य भी नही बनता । न दिशा नामक द्रव्य ही सिद्ध होता है ।

(छ) दिक्-द्रव्य

वैशेषिक ·

कालकृत पर-अपर आदि प्रत्ययों से भिन्न, पूर्व-पश्चिम आदि प्रत्यय रूप हेतु से दिशा-द्रव्य की प्रतीति होती है । मूर्त्त द्रव्यो मे ही मूर्त्त द्रव्य की सीमा करके यह इससे पूरब में है, दक्षिण मे है, पश्चिम में है, उत्तर में है, पूरब-दक्षिण में है, दक्षिण-पश्चिम मे है, पश्चिम-उत्तर में है, उत्तर-पूरब मे है, नीचे है, ऊपर है— इस प्रकार से दस प्रत्यय जिसमें होते हैं वह दिशा है । कहा भी है—

'अत' इदम् इति यतः तद्दिशो लिङ्गम् ।'[1]

ये प्रत्यय बिना किसी निमित्त के तो हो नही सकते, क्योंकि कदाचित् ही होते हैं । और 'दण्डी' की तरह विशिष्ट प्रत्यय होने से जिस किसी निमित्त से भी नहीं हो सकते । परस्पर सापेक्ष मूर्त्त द्रव्य के निमित्त से भी नही हो सकते,

---

१ वैशेषिक सूत्र, २।२।१२ ।

क्योंकि परस्पर में एक दूसरे के आश्रित होने से दोनों ही प्रत्ययों के अभाव का अनुषग आता है। किसी अन्य निमित्त से भी इन प्रत्ययों का होना सम्भव नही है, अत इनसे दिशा के ही अस्तित्व का अनुमान होता है। वह अनुमान इस प्रकार है—जो यह पूरब-पश्चिम आदि का ज्ञान है, यह मूर्त्त द्रव्य से भिन्न किसी अन्य पदार्थ के निमित्त से होता है, क्योंकि वह मूर्त्त द्रव्य के निमित्त से होने वाले प्रत्ययों से विलक्षण है, जैसे सुखादि प्रत्यय। तथा दिशा-द्रव्य दूसरे द्रव्यों भिन्न है, क्योंकि उसका लिङ्ग पूरब आदि प्रत्यय है। [1]काल की तरह दिशा व्यापक, एक और नित्य द्रव्य है। शायद कहा जाये कि दिशा को एक द्रव्य मानने पर पूरब आदि व्यवहार नही बन सकेगा, किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नही है, क्योंकि मेरु की प्रदक्षिणा करते हुये सूर्य का लोकपालो के द्वारा गृहीत दिशा प्रदेशों के साथ सयोग होने से पूरब आदि व्यवहार बन जाता है।

जैन .

उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योकि पूरब आदि प्रत्यय चूंकि कार्यरूप हैं, अत इनसे कारण मात्र का अनुमान करते है या दिग्द्रव्य नामक कारण विशेष का ? प्रथम पक्ष में तो हमें कोई आपत्ति नही है, क्योकि हम उन प्रत्ययो का कारण आकाश को मानते हैं। यदि उमी को आप दिशा नाम देते है तो केवल नाम में विवाद रह जाता है। इसी से दूसरा पक्ष भी खण्डित हो जाता है, क्योकि गधे के सीग की तरह जब दिशा द्रव्य मर्वथा असम्भव है तो पूरब आदि प्रत्ययो का कारण दिशा-द्रव्य कैसे हो सकता है ? जिससे उन प्रत्ययो के द्वारा दिशा-द्रव्य का अनुमान किया जा सके। शायद कहा जाये कि दिशा के अभाव मे पूरब आदि का व्यवहार कैसे होगा ? किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नही है। आकाश के प्रदेशो की पक्ति में ही सूर्योदय के कारण पूरब आदि व्यवहार बन जाता है और उसके सम्बन्ध से मूर्त्त द्रव्यो मे पूरब-पश्चिम आदि प्रत्यय विशेष की उत्पत्ति होती है। अत परस्पर सापेक्ष मूर्त्त द्रव्य ही पूरब आदि प्रत्ययो के हेतु नही हैं, जिससे इतरेतराश्रय दोष आने से दोनो का ही अभाव हो जाये।

वैशेषिक—यदि मूर्त्त द्रव्यो मे पूरब आदि प्रत्यय के होने में आकाश-प्रदेशो की पक्ति कारण है तो आकाश-प्रदेशो की पक्ति मे पूर्वादि प्रत्यय होने में क्या कारण है ?

जैन—स्वरूप ही कारण है। यदि ऐसा न माने तो दिशा के प्रदेशो में पूरब आदि व्यवहार स्वभाव से होता है, अन्य दिशा-द्रव्य की अपेक्षा से होता है

१ न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २५८।

या परस्पर की अपेक्षा से होता है ? यदि स्वभाव से होता है तो पूरब आदि व्यवहार में परिवर्तन नहीं होना चाहिये, अर्थात् जो दिशा-प्रदेश पूरब व्यवहार कराने में कारण हैं वे ही दिशा-प्रदेश पश्चिम व्यवहार कराने में हेतु नहीं होने चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता,[1] जो दिशा-प्रदेश विवक्षित प्रदेश की अपेक्षा से पूरब व्यवहार कराने में कारण होते हैं, वे ही दिशा-प्रदेश अन्य प्रदेश की अपेक्षा से पश्चिम व्यवहार कराने में हेतु होते हैं। कहा भी है—

प्राग्भागो यः सुराष्ट्राणां मालवानां स दक्षिणः ।
प्राग्भाग पुनरेतेषा तेषामुत्तरतः स्थितः ॥[2]

अर्थात् जो सौराष्ट्रदेश के वासियों के लिये पूर्वीय भाग है वह मालवदेश के वासियों के लिये दक्षिण भाग है और जो मालववासियों के लिये पूर्वभाग है वह सौराष्ट्रदेश वासियों के लिये उत्तर भाग है।

यदि दिशा के प्रदेशों में पूरब आदि व्यवहार अन्य दिशा-द्रव्य की अपेक्षा से होता है तो अनवस्था दोष आता है, क्योंकि उन अन्य दिशा-द्रव्य के प्रदेशों में भी पूरब आदि व्यवहार अन्य दिशा-द्रव्य की अपेक्षा से मानना होगा। यदि कहोगे कि दिग्द्रव्य के प्रदेशों में पूरब आदि व्यवहार परस्पर में एक दूसरे दिग्द्रव्य की अपेक्षा से होता है तो परस्पराश्रय दोष का अनुषग आता है।

फिर भी यदि दिशा नाम का एक द्रव्य मानने का आग्रह है तो देश नाम का भी एक द्रव्य मानना चाहिये, क्योकि 'यह इससे पूरब देश है' इत्यादि प्रत्यय भी देश द्रव्य के बिना नही बन सकते। और ऐसा होने पर द्रव्यो की नौ सख्या में बाधा आती है। यदि कहोगे कि पूरब आदि दिशाओं की अपेक्षा से ही पूरब देश आदि प्रत्यय होते है तो ऐसा कहना भी मनोरथ मात्र है, क्योंकि उक्त न्याय से दिशा आकाश के प्रदेशो की पक्ति से भिन्न नही है।

शङ्का—तब तो सूर्य के उदय आदि के कारण ही आकाश के प्रदेशों की पंक्ति की तरह पृथ्वी आदि में पूरब-पश्चिम आदि प्रत्यय बन जायेंगे, अतः आकाश के प्रदेशों की पक्ति की कल्पना भी निष्फल है।

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २५९।

२ मिलाइये— प्राग्देशो हि केषांचित्सोऽन्येषां दक्षिणापथ.।
—मीमांसादर्शन, तन्त्रवार्तिक १।३।६८० पूर्वार्द्ध

समाधान—नहीं। 'पूरब दिशा में पृथ्वी आदि हैं' इस प्रकार का आधार आधेय व्यवहार पाया जाता है, अतः पृथ्वी आदि के आधारभूत आकाश के प्रदेशों की पंक्ति की कल्पना निष्फल है।

उक्त कथन से वैशेषिक ने जो दिशा-द्रव्य की सिद्धि के लिये अनुमान उपस्थित किया है, वह भी खण्डित हो जाता है, क्योंकि पूरब-पश्चिम आदि का ज्ञान आकाश के प्रदेशों की पंक्ति रूप पदार्थ के निमित्त से होता है, उसमें दिशा-द्रव्य कारण नही है। यत. किसी भी प्रमाण से दिग्द्रव्य की सिद्धि नही होती, अत दिग्द्रव्य का वर्णन वन्ध्या के पुत्र के सौभाग्य वर्णन के समान उपेक्षणीय है। इस प्रकार वैशेषिक के द्वारा माना गया दिग्द्रव्य सिद्ध नही होता। और न आत्मद्रव्य ही सिद्ध होता है, क्योकि व्यापकत्व आदि धर्मों से युक्त आत्मा किसी भी प्रमाण से सिद्ध नही है।

(ज) आत्म-द्रव्य

वैशेषिक :

[1]उक्त कथन युक्त नही है, क्योकि व्यापकत्व आदि धर्मो से युक्त आत्मा अनुमान से सिद्ध है। वह अनुमान इस प्रकार है—आत्मा व्यापक है, क्योंकि वह अणु परिमाण का अधिकरण न होते हुए नित्य द्रव्य है। जो जो अणु परिमाण का अधिकरण न होते हुये नित्य द्रव्य होता है, वह वह व्यापक होता है, जैसे आकाश। आत्मा भी वैसा ही है, इसलिये वह व्यापक है। तथा, आत्मा अणु परिमाण का अधिकरण नही है, क्योकि वह हमारे प्रत्यक्ष विशेष गुणो का अधिकरण है, जैसे घटादि। तथा, आत्मा नित्य द्रव्य है अस्पर्शवान् द्रव्य होने से, जैसे आकाश। अथवा, आत्मा नित्य है क्षणिक विशेष गुणो का आधार होने से, जैसे आकाश। तथा आत्मा द्रव्य है, गुणवान् होने से, जैसे घट।

यदि आत्मा व्यापक न होता हो देवदत्त की पत्नी का शरीर तथा द्वीपान्तरवर्ती मणि-मुक्ता वगैरह, जो देवदत्त के उपकारक हैं, उन सबकी उत्पत्ति न हुई होती। क्योकि उन सबकी उत्पत्ति मे देवदत्त का अदृष्ट गुण कारण है। इसके सम्बन्ध में अनुमान इस प्रकार है—देवदत्त की पत्नी आदि का शरीर देवदत्त के गुणो पूवक ही निर्मित हुआ है, क्योकि वह कार्य होते हुये देवदत्त का उपकारक है, जैसे ग्रास वगैरह। जो कारण कार्य देश मे वर्तमान होता है, वही कार्य की उत्पत्ति में सहायक होता है, अन्यथा नही। अत जिस देश में देवदत्त की पत्नी

---

१ न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २५९।

का शरीर आदि उत्पन्न होता है, उसमें उसके उत्पादक कारणों की तरह देवदत्त के गुणों की भी सिद्धि होती है। और जहाँ गुण रहते हैं, वहाँ उसके गुणी का भी अनुमान किया जाता है, क्योंकि गुणी के बिना गुण नहीं रहते।

तथा, यदि आत्मा व्यापक नहीं है तो देशान्तर और दिशान्तर में रहने वाले परमाणुओं के साथ उसका युगपत् संयोग नहीं हो सकता और उसके न होने से आद्य क्रिया नहीं हो सकती। आद्य क्रिया के न होने से अन्त्य संयोग और उस संयोग निमित्तक शरीर का तथा उस शरीर के साथ आत्मा के सम्बन्ध का अभाव होने से बिना किसी उपाय के सर्वदा सबको मोक्ष की प्राप्ति हो जायेगी। अथवा जिस किसी तरह शरीर की उत्पत्ति हो भी जाये, तथापि शरीर के प्रत्येक अवयव मे प्रवेश करने के कारण आत्मा भी सावयव हो जायेगा। और सावयव होने पर घट-पट की तरह आत्मा भी कार्य हो जायेगा। और कार्य होने से घट की तरह आत्मा का भी विनाश हो जायेगा।

तथा, यदि आत्मा शरीर के बराबर है तो आत्मा के मूर्तिक होने से शरीर में उसका प्रवेश नही हो सकेगा, क्योंकि मूर्त का मूर्त में प्रवेश नहीं हो सकता। अत सभी शरीर आत्मशून्य हो जायेंगे। तथा यदि आत्मा शरीर परिमाण वाला है तो बाल शरीर परिमाण वाला आत्मा उस परिमाण को छोड़कर युवा शरीर परिमाण को स्वीकार करता है या बिना छोडे ही? यदि वह बाल शरीर परिमाण को छोडकर युवा शरीर परिमाण को स्वीकार करता है तो शरीर की तरह आत्मा में भी अनित्यता का प्रसङ्ग आता है अत परलोक वगैरह के अभाव का अनुषग आता है। यदि बाल शरीर परिमाण के बिना छोडे ही युवा शरीर परिमाण को स्वीकार करता है तो शरीर की तरह पूर्व परिमाण को छोडे बिना वह उत्तर परिमाण को कैसे प्राप्त कर सकता है? तथा यदि आत्मा शरीर परिमाण वाला है तो शरीर को काटने पर आत्मा के भी कटने का प्रसङ्ग आता है।

जैन

'आत्मा व्यापक है' इत्यादि कथन समीचीन नही है, क्योंकि यह पक्ष प्रत्यक्ष बाधित होने से उसके समर्थन के लिए दिया गया हेतु कालात्ययापदिष्ट है। 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकार के प्रत्यक्ष के द्वारा अपने शरीर में ही आत्मा का ग्रहण होता है।

वैशेषिक—यदि आत्मा की प्रतिपत्ति अव्यापक रूप से होती तो पक्ष को प्रत्यक्ष बाधित कहा जा सकता था, जैसे अग्नि को ठण्डी सिद्ध करने पर उसकी उष्ण रूप से प्रतिपत्ति होने से 'अग्नि ठण्डी है' यह पक्ष प्रत्यक्ष बाधित है।

किन्तु आत्मा की प्रतिपत्ति अव्यापक रूप से नही होती, क्योंकि नियत देश में आत्मा का अवच्छेद नही होता।

जैन—'नियत देश में आत्मा का अवच्छेद नहीं होता' इसका क्या अर्थ है? क्या नियत देश में आत्मा का अनुभव नही होता, या नियत देश का उल्लेख करने वाले शब्द का प्रयोग नही पाया जाता? पहला पक्ष तो ठीक नही है, क्योकि आत्मा में नियत देश का अनुभव होता है। 'मैं सुखी हूँ' इत्यादि प्रत्यय के द्वारा सुखादि से विशिष्ट आत्मा का शरीर देश में ही अनुभव होता है। जैसे 'यह घट है' इस प्रत्यय के द्वारा पुरोवर्ती देश में घट की प्रतीति होती है। प्रत्यक्ष से नियत देश, नियत काल और नियत आकार का अनुभव हुये बिना वस्तु का अनुभव नही हो सकता।

दूसरा विकल्प भी अयुक्त है, क्योकि यदि नियत देश का उल्लेख करने वाले शब्द का प्रयोग नही पाया जाता, तथापि प्रत्यक्ष के द्वारा उसका अनुभव होने मे क्या बाधा है? प्रत्यक्ष का स्वरूप शब्दानुविद्ध तो है नही, जिससे शब्द के अभाव में वह वस्तु के स्वरूप का विवेचन ही नही कर सकता हो। अत अनुभव के पश्चात् ही सर्वत्र शब्द प्रयोग होता है। अनेक धर्मों से युक्त वस्तु का अनुभव होने पर जिस अश में सकेत स्मरण होता है, उसी मे शब्द का प्रयोग होता है। अत शब्द के अप्रयोग मे वस्तु का अनुभव कैसे नही हो सकता। इसलिये शब्द का प्रयोग नही होने पर भी आत्मा की नियत देश रूप से प्रतीति होती है और इसलिये 'आत्मा व्यापक है' यह पक्ष प्रत्यक्ष बाधित होने से आपका हेतु कालात्ययापदिष्ट है।

तथा, 'आत्मा अणु परिमाण का अधिकरण नही है' यहाँ जो प्रतिषेध है वह पर्युदास रूप है या प्रसज्य रूप? यदि पर्युदास रूप है तो उसका मतलब यह होता है कि आत्मा अणु परिमाण का अधिकरण न होकर किसी अन्य परिमाण का अधिकरण है, वह अन्य परिमाण कौन सा है? परम महापरिमाण या अवान्तर परिमाण? प्रथम पक्ष मे हेतु का विशेषण असिद्ध है। जैसे 'शब्द अनित्य है क्योकि वह अनित्य होते हुये बाह्य इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है' इस अनुमान में हेतु का विशेषण 'अनित्य होते हुये' असिद्ध है। दूसरे पक्ष में हेतु का विशेषण विरुद्ध है, क्योकि पक्ष तो 'आत्मा व्यापकत्व है' और हेतु का विशेषण है 'अवान्तर परिमाण का अधिकरण होते हुये'। जो अवान्तर परिमाण वाला है वह व्यापक कैसे हो सकता है? प्रसज्य पक्ष में असिद्धता है, क्योंकि हम जैन लोग अभाव को तुच्छ स्वभाव नही मानते। अत विचार करने पर आत्मा में अणु परिमाण का प्रतिषेध घटित नही होता।

तथा आत्मा को आप कथञ्चित् नित्य द्रव्य मानते हैं या सर्वथा ? यदि कथञ्चित् नित्य द्रव्य मानते हैं तो घटादि से व्यभिचार आता है, क्योंकि घट अणु परिमाण का अधिकरण नहीं है तथा कथञ्चित् नित्य द्रव्य है फिर भी व्यापक नहीं है। यदि सर्वथा नित्य मानते हैं तो असिद्ध है, क्योंकि सर्वथा नित्य वस्तु अर्थक्रियाकारी नहीं हो सकती, अतः गधे के सींग की तरह उसका सत्त्व ही असम्भव है। इससे आत्मा को नित्य सिद्ध करने के लिये जो 'अस्पर्शवान् द्रव्य होने से' हेतु दिया है वह भी अपिद्ध हो जाता है। क्योंकि यदि उस हेतु से आत्मा को कथञ्चित् नित्य सिद्ध करते हो तो सिद्ध साधन है और यदि सर्वथा नित्य सिद्ध करते हो तो अन्वय नहीं बनता, सर्वथा नित्य कुछ भी नहीं है।

तथा 'देवदत्त की पत्नी का शरीर' आदि जो कुछ कहा है वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि देवदत्त की पत्नी के शरीर आदि कार्यों का कारण आप देवदत्त की आत्मा के ज्ञान-दर्शन आदि गुणो को मानते हैं या धर्म-अधर्म को ? प्रथम पक्ष मे हेतु कालात्ययापदिष्ट है, क्योंकि देवदत्त की आत्मा के ज्ञानादि गुण प्रत्यक्ष आदि से देवदत्त के शरीर मे ही पाये जाते हैं और वे देवदत्त की पत्नी के शरीर आदि को उत्पन्न करने मे कुछ भी व्यापार नहीं करते। हाँ, देवदत्त के धर्म-अधर्म (पुण्य-पाप) को देवदत्त की पत्नी के शरीर आदि कार्यों की उत्पत्ति मे निमित्त हम भी मानते हैं, किन्तु उन्हें हम देवदत्त की आत्मा का गुण नहीं मानते, क्योंकि वे अचेतन हैं और मोक्ष का विचार करते समय हम कर्मों को पौद्गलिक सिद्ध करेंगे।

जरा देर के लिये यह मान भी लिया जाये कि धर्म-अधर्म देवदत्त की आत्मा के गुण हैं, फिर भी देवदत्त की पत्नी का शरीर जिस देश में उत्पन्न होता है, उसमे उनके (धर्म-अधर्म के) सद्भाव की सिद्धि नहीं होती। ऐसा कोई नियम नहीं है कि कार्यदेश मे वर्तमान कारण ही कार्य की उत्पत्ति में व्यापार करते हैं। अञ्जन, तिलक, मन्त्र वगैरह जिस स्त्री वगैरह को आकृष्ट करते हैं, उसके देश मे वर्तमान नहीं होते हुये भी अपना कार्य करते हुये देखे जाते हैं और जो आपने [1]कहा है कि 'आत्मा के अव्यापक न होने पर दिगान्तर तथा देशान्तरवर्ती परमाणुओ के साथ उनका संयोग नहीं हो सकेगा' इत्यादि वह भी ठीक नहीं है। 'जो जिससे संयुक्त होता है उसके प्रति वही आकृष्ट होता है' ऐसा नियम नहीं है। चुम्बक की ओर उससे असयुक्त होने पर भी लोहा आकृष्ट होता

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २६६

है। जो आत्मा को व्यापक मानता है, उसका सभी परमाणुओं के साथ संयोग होने से सभी परमाणु उसकी ओर आकृष्ट हो जायेंगे और ऐसी स्थिति में न जाने कितना विशाल शरीर बन जायेगा।

तथा जो यह कहा है कि [1]'सावयव शरीर मे प्रवेश करने से आत्मा भी सावयव हो जायेगा, यह भी ठीक नहीं हैं, क्योंकि सावयव होने से अपने से भिन्न अवयवो से रचा जाना घट वगैरह मे भी नहीं बनता। घट वगैरह सावयव होने पर भी कपालो के संयोग पूर्वक निर्मित होते हुए नहीं देखे जाते। कुम्भकार के हाथ वगैरह के व्यापार से युक्त मिट्टी के पिण्ड से ही घट की उत्पत्ति देखी जाती है। पूर्व आकार को छोडकर उत्तर आकार रूप से द्रव्य के परिणमन करने का नाम ही कार्य है। बाहर की तरह आभ्यन्तर मे भी उसकी अनुभूति होती है। घट वगैरह मे अवयव सयोग पूर्वक कार्यपना देखा जाता है, अतः सर्वत्र वैसा ही मानना युक्त नहीं है, अन्यथा लकडी पर लोहे से लिखा जाता देखकर वज्र मे भी वैसा ही मानने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। प्रमाण बाधा दोनो पक्षो मे समान है।

तथा जब आत्मा युवा शरीर के बराबर होता है तो यद्यपि वह बाल-शरीर परिमाण को छोड देता है, फिर भी उसका सर्वथा विनाश नहीं होता। जैसे फण रहित अवस्था को छोडकर फण सहित अवस्था को धारण करने पर भी सर्प का विनाश नहीं होता। अत परलोक के अभाव का प्रसङ्ग नहीं आता, क्योंकि पर्याय रूप से अनित्य होने पर भी आत्मा द्रव्य रूप से नित्य है। तथा यह कहना भी ठीक नहीं है कि शरीर का छेद (विनाश) होने पर आत्मा का भी छेद हो जायेगा। शरीर से सम्बद्ध आत्मप्रदेशो से छिन्न हुये शरीर-प्रदेश मे आत्म-प्रदेशो के रहने का नाम ही आत्मा का छेद है, ऐसा छेद आत्मा मे होता है। यदि ऐसा न हो तो शरीर से कटकर जुदे हुये शरीर-प्रदेश में कम्प नहीं होना चाहिये। शायद कहा जाये कि शरीर से कटकर जुदे हुये शरीर-देश मे वर्तमान आत्मप्रदेश एक जुदी आत्मा हो जायेंगे किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि छिन्न अवयव मे वर्तमान आत्मप्रदेश तत्काल ही मूल शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं इसी से छिन्न अवयव मे कम्प होना भी बन्द हो जाता है। शायद कहा जाये कि छिन्न और अछिन्न आत्मप्रदेश पुन आपस में कैसे मिल जाते हैं तो इसका यह उत्तर है कि सर्वथा छेद नहीं मानते। जैसे कमल की नाल के तन्तु आपस मे जुडे रहते हैं वैसे ही आत्मा के प्रदेश भी परस्पर में सम्बद्ध रहते हैं।

१ न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २६७

[1]आत्मा को शरीर परिमाण मानने पर मूर्तता का जो प्रसङ्ग दिया गया है, उसके सम्बन्ध में पूछना यह है कि मूर्तता से आपका क्या मतलब है? असर्वगत द्रव्य परिमाणपना या रूपादिमत्ता। पहला पक्ष हमें अभीष्ट है, उसमें कोई दोष नहीं है। हाँ, दूसरा पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि जो अव्यापक होता है वह नियम से रूपादिमान् होता है, ऐसी कोई व्याप्ति नहीं है। मन अव्यापक है फिर भी आप उसे रूपादिमान् नहीं मानते। अत आत्मा का शरीर मे प्रवेश अनुपपन्न नहीं है, क्योकि असर्वगत द्रव्य परिमाण रूप मूर्तत्व मन की तरह शरीर प्रवेश का प्रतिबन्धक नही है। जब रूपादिमत्व रूप मूर्तत्व से युक्त जल वगैरह का भस्म वगैरह मे प्रवेश हो सकता है तो उस प्रकार के मूर्तत्व से रहित आत्मा का शरीर मे प्रवेश क्यो नहीं हो सकता?

अत. जो जैसे निर्बाध ज्ञान में प्रतिभासित होता है वह वैसे ही यथार्थ मे व्यवहार का भाजन होता है। जैसे घट का प्रतिभास प्रतिनियत देश, प्रतिनियत काल और प्रतिनियत आकार रूप से सामने बाहर मे होता है, वैसे ही आत्मा का प्रतिभास प्रतिनियत देश, प्रतिनियत काल और प्रतिनियत आकार रूप से निर्बाध ज्ञान में शरीर के अभ्यन्तर मे होता है। यह बात असिद्ध नहीं है, क्योंकि पहले बतला आये हैं कि शरीर से बाहर आत्मा का प्रतिभास नहीं होता है।

तथा आत्मा व्यापक नहीं है, क्योकि वह सामान्य और विशेष से युक्त होते हुये हम लोगो के प्रत्यक्ष का विषय है। जो-जो सामान्य और विशेष से युक्त होते हुये हम लोगो के प्रत्यक्ष का विषय होता है, वह व्यापक नहीं होता, जैसे घट। आत्मा भी सामान्य-विशेष से युक्त होते हुये हम लोगो के प्रत्यक्ष का विषय है, अत वह व्यापक नहीं है। इसलिये वैशेषिको ने आत्मा को जिस रूप मे माना है, वह रूप सिद्ध नही होता। इसी तरह मन नामक द्रव्य भी सिद्ध नहीं होता।

(ञ) मनो-द्रव्य

वैशेषिक :

[2]मन कार्य नहीं हो सकता, अतः नित्य है। और कार्य इसलिये नहीं है कि उसको बना सकने वाले कारणो का अभाव है। उसका खुलासा इस प्रकार है—

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २६८।

२. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २६८।

मन को बना सकने वाले कारण विजातीय हैं या सजातीय ? पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योकि विजातीय कारण से कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योकि मन की उत्पत्ति मे मन ही सजातीय है। अत एक मन की उत्पत्ति मे कारणभूत अनेक मनो के सद्भाव का प्रसङ्ग आता है। क्योकि एक ही द्रव्य द्रव्यान्तर को उत्पन्न नहीं कर सकता। कहा भी है—

'द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते'[1]

अर्थात् अनेक द्रव्य द्रव्यान्तर को उत्पन्न करते हैं।

और एक शरीर मे अनेक मनो का सद्भाव नही है, क्योकि प्रत्येक शरीर मे एक-एक मन रहता है। यदि एक शरीर में अनेक मन होते तो प्रत्येक शरीर मे एक साथ अनेक ज्ञान हो सकते। तथा प्रत्येक शरीर मे अवरुद्ध होने के कारण उन अनेक मनों का परस्पर मे संयोग भी नहीं हो सकता, और बिना सयुक्त हुये वे मन किसी अन्य मन को उत्पन्न नहीं कर सकते। शायद कहा जाये कि मुक्त जीवो के मन शरीर से अवरुद्ध नहीं होते, अत उनमे परस्पर मे सयोग सम्भव होने से वे मन दूसरे मन को उत्पन्न कर सकते हैं। किन्तु ऐसा कहना भी युक्त नहीं है, क्योकि धर्म और अधर्म से अधिष्ठित हुये बिना मन मन को उत्पन्न नहीं कर सकते। इसलिये कार्यरूपता न बनने से मन की नित्यता सिद्ध होती है।

एक साथ अनेक ज्ञान न हो सकने से मन के सद्भाव की सिद्धि होती है। एक साथ सभी इन्द्रियो के अपने-अपने विषय से सम्बद्ध होने पर भी जो इन्द्रिय मन के द्वारा प्रेरित होती है, वही अपने विषय मे ज्ञान को उत्पन्न करती है। तथा, एक साथ सन्निहित इन्द्रिय और अर्थ अपने कार्य में क्रमवान् कारण की अपेक्षा करते हैं, क्योकि अन्य सब सामग्री के होते हुये भी वे क्रम से कार्य करते हैं, जैसे लुहार हाथ आदि की अपेक्षा करता है। चक्षु वगैरह क्रमवान् कारण की अपेक्षा करते हैं, क्योकि कारणान्तर का साकल्य होने पर भी जो उत्पन्न नही हो सकता, उसे उत्पन्न करते हैं, जैसे विसोला (बसूला), कैंची वगैरह। इत्यादि अनुमानो से मन के सद्भाव की सिद्धि होती है। शीघ्र सचारी होने के कारण उस मन की गति निर्बाध होती है, अत वह स्पर्श से रहित है। स्पर्श से रहित होने के कारण आकाश की तरह नित्य है। क्रम से अर्थ को जानने के कारण अव्यापक है और अदृष्ट विशेष के कारण प्रत्येक आत्मा का मन भिन्न-भिन्न है।

---

१ वैशेषिकसूत्र १।१।८।

जैन[1] :

वैशेषिक ने पूछा है कि मन के आरम्भक कारण सजातीय हैं या विजातीय ? सो यह कारण की सजातीयता और विजातीयता का विचार पृथिवी आदि द्रव्य की अपेक्षा से है या अवान्तर सामान्य की अपेक्षा से ? यदि अवान्तर सामान्य की अपेक्षा से है तब तो तन्तु-पट वगैरह मे भी कार्य-कारणभाव नही बन सकता, क्योकि वे दोनो एक अवान्तर सामान्य के आधार नहीं हैं और इसका कारण यह है कि न तो तन्तुपने की अपेक्षा से पट सजातीय है और न पटपने की अपेक्षा से तन्तु सजातीय हैं। यदि पृथिवी आदि की अपेक्षा से यह विचार करते हैं तो पृथिवी आदि द्रव्य की अपेक्षा से तन्तु-पट वगैरह मे सजातीयता होने से कार्य-कारणभाव है, वैसे ही पुद्गल द्रव्य की अपेक्षा से मन परमाणु का सजातीय है, अत उनमे कार्य-कारणभाव हो सकता है। और ऐसी स्थिति मे मन पौद्गलिक सिद्ध होता है। अतः मन पौद्गलिक है, इन्द्रिय होने से, जैसे चक्षु आदि।

वैशेषिक—चक्षु वगैरह सुनिश्चित रूप वगैरह के व्यञ्जक होते हैं, अतः उन्हें सुनिश्चित पृथिवी आदि भूतो का कार्य माना जाता है, किन्तु मन तो रूप, रस आदि सभी का व्यञ्जक होता है, तब चक्षु के दृष्टान्त से उसे पुद्गल का कार्य कैसे सिद्ध किया जा सकता है ?

जैन—पृथिवी आदि चार पृथक् द्रव्यो का निषेध करते हुये उनमे जाति भेद का निराकरण कर आये हैं तथा जैन न्याय[2] मे इन्द्रियो के प्रतिनियत पृथिवी आदि भूतों के कार्य होने का भी निराकरण कर आये हैं। ये चक्षु आदि एक ही पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं। अत. दृष्टान्त और दार्ष्टान्त मे कोई विषमता नहीं है। यदि आप प्रतिनियत रूप आदि का व्यञ्जक होने के कारण चक्षु वगैरह को प्रतिनियत भूत का कार्य मानते हैं तो सभी रूपादि का व्यञ्जक होने के कारण मन को समस्त भूतो का कार्य मानिये।

दूसरी बात वैशेषिक ने यह कही है कि चूंकि एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न नहीं होते, अतः मन के सद्भाव की सिद्धि होती है, किन्तु ऐसा कथन भी विचारपूर्ण नहीं है, क्योकि अणु रूप मन चक्षु आदि का अधिष्ठायक नहीं हो सकता। चक्षु तो अनेक किरण वाली है और घ्राण वगैरह पार्थिव आदि के

---

१ न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २६९।

२. जैन न्याय (भाग १), लेखक कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक . भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९६६।

अवयव रूप हैं। तो मन के द्वारा वे एक साथ अधिष्ठित होती हैं या क्रम से ? पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि अणुरूप मन एक साथ अनेकों का अधिष्ठायक नहीं हो सकता। दूसरे पक्ष मे निकटवर्ती और दूरवर्ती अर्थों की क्रम से ही प्रतीति होती है। शायद कहा जाये कि मन शीघ्रगामी है, अत क्रम से प्रतीति होने पर भी एक साथ प्रतीति का भ्रम होता है, किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि तब तो अवयवी की प्रतीति भी भ्रान्त ठहरेगी। क्योंकि सामने वर्तमान अनेक अर्थों मे क्रम से एक-एक रश्मि से उत्पन्न हुआ ज्ञान क्रम से एक एक ही अर्थ को ग्रहण करेगा, एक साथ समस्त अवयवो मे एकाकार की प्रतीति तो भ्रान्त ठहरेगी।

तथा एक साथ अनेक ज्ञानो की अनुत्पत्ति भी असिद्ध है। बडी पूरी को खाते समय रूपादि विषयक पाँच ज्ञानो की एक साथ उत्पत्ति की प्रतीति होती है।

शङ्का - यद्यपि वे पाँचो ज्ञान क्रम से होते हैं, किन्तु जल्दी होने के कारण ऐसी प्रतीति होती है मानो एक साथ हुये हैं ?

समाधान—ऐसा मानने से तो सभी पदार्थों के क्षणिक होने का प्रसङ्ग आता है, क्योंकि यह कहा जा सकता है कि पदार्थ प्रतिक्षण नष्ट होकर इतनी जल्दी पुन उत्पन्न हो जाते हैं कि जिसके कारण उनमे अक्षणिकपने का बोध होता है। यदि कहोगे कि पदार्थों को क्षणिक मानने मे प्रत्यक्ष से बाधा आती है तो बडी पूरी को खाते समय रूपादि विषयक पाँचो ज्ञानो की उत्पत्ति क्रम से मानने मे भी प्रत्यक्ष से बाधा आती है। और वैशेषिक ने कहा है कि मन जिससे संयुक्त होता उसमे समवाय सम्बन्ध से रहने वाले सुखादि मे ज्ञान को उत्पन्न करता है, किन्तु ऐसा मानने पर समस्त आत्माओ मे समवाय सम्बन्ध से रहने वाले सुख आदि मे भी उसे ज्ञान को उत्पन्न करना चाहिये, क्योंकि नित्य और व्यापी होने से मन के साथ उनका संयोग सम्बन्ध है और ऐसी स्थिति मे प्रत्येक प्राणी में भिन्न-भिन्न मन मानना व्यर्थ है।

वैशेषिक—जो मन जिसका होता है, वह मन उसमे समवाय सम्बन्ध से रहने वाले सुखादि मे ज्ञान को उत्पन्न करता है।

जैन—[1]यह भी केवल श्रद्धा मात्र है, क्योंकि प्रतिनियत मन का प्रतिनियत आत्मा से सम्बन्ध ही सिद्ध नहीं होता। अमुक मन अमुक आत्मा से

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २७२।

ही क्यों सम्बद्ध होता है ? क्या वह उसका कार्य है, या उसने उसका उपकार किया है, या उसका उसके साथ संयोग है, या वह मन उसके अदृष्ट से प्रेरित है, या वह मन उस आत्मा से प्रेरित है ? वह मन उस आत्मा का कार्य तो हो नहीं सकता, क्योंकि ऐसा मानना वैशेषिक सिद्धान्त के विरुद्ध है तथा ऐसा मानने से मन नित्य नहीं हो सकता। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि मन सर्वथा नित्य है, अतः उसमें कोई अतिशय उत्पन्न कर सकना सम्भव नहीं है। तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि सभी आत्माएँ व्यापक हैं अतः उस मन के साथ सभी का संयोग सम्बन्ध है, इसलिये उस मन को सभी आत्माओं में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले सुखादि का ज्ञान कराना चाहिये। जो मन जिसके अदृष्ट से प्रेरित होकर प्रवृत्ति या निवृत्ति करता है, वह मन उसका है यह चौथा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि अदृष्ट अचेतन है, अतः वह अनिष्ट नरकादि से बचाकर इष्ट स्वर्ग वगैरह में मन को प्रेरित नहीं कर सकता। यदि अचेतन अदृष्ट ऐसा कर सकता तो ईश्वर नाम के चेतन अधिष्ठाता की कल्पना व्यर्थ ठहरेगी।

जिस आत्मा के द्वारा जो मन प्रेरित होता है वह उसका है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो अनुपलब्ध होता है, उसको प्रेरित करना शक्य नहीं है। यदि अनुपलब्ध को भी प्रेरित किया जा सकता है तो अदृष्ट परमाणु वगैरह को भी प्रेरणा का प्रसङ्ग आने से ईश्वर की कल्पना व्यर्थ ठहरती है, अतः मन की सिद्धि किसी प्रमाण से नहीं होती। सिद्धि हो तो भी उसका आत्मा के साथ संयोग नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा और मन दोनों निरंश हैं। निरंशों का एक देश से संयोग होने पर दोनों सांश ठहरते हैं। सर्वात्मना संयोग होने पर दोनों एक हो जाने से दोनों के व्याघात का प्रसङ्ग आता है। अत वैशेषिक के द्वारा माने गये मनो द्रव्य की भी सिद्धि नहीं होती।

इस तरह विचार करने पर वैशेषिक के द्वारा कल्पित द्रव्य-पदार्थ सिद्ध नहीं होता और न गुण-पदार्थ सिद्ध होता है।

२. गुण-पदार्थ[1] :

वैशेषिक :

हम वैशेषिकों ने गुण-पदार्थ का जो स्वरूप माना है, प्रमाण से वह वैसा ही सिद्ध होता है। उसका लक्षण इस प्रकार कहा है—

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २७२।

'द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्षः ।'[1]

अर्थात् जो द्रव्य के आश्रय हो, निर्गुण हो और सयोग तथा विभाग में सापेक्ष कारण हो वह गुण है ।

इस लक्षण से लक्षित गुण चौबीस हैं । सूत्रकार ने कहा भी है—

'रूप-रस-गन्ध-स्पर्शा सख्यापरिमाणानि पृथक्त्व सयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धय सुखदु खे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नश्च गुणा. ।'[2]

इस सूत्र के द्वारा, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दु.ख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न— इन सत्तरह गुणो को गिनाया है और 'च' शब्द से गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म और शब्द—इन सात का ग्रहण किया है ।

'तत्र रूप चक्षुर्ग्राह्य पृथिवी-उदक-ज्वलनवृत्तिः ।'[3]

उनमे से रूप का ग्रहण चक्षु के द्वारा होता है और वह रूपगुण पृथिवी, जल और अग्नि मे रहता है ।

'रसो रसनेन्द्रियग्राह्य. पृथिवी-उदकवृत्ति. ।'[4]

रस का ग्रहण रसनेन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य होता है । वह पृथिवी और जल मे रहता है ।

'स्पर्श त्वगिन्द्रियग्राह्य पृथिवी-उदक-ज्वलन-पवनवृत्ति. ।'[5]

स्पर्श का ग्रहण स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा होता है । वह स्पर्शगुण पृथिवी, जल, अग्नि और वायु मे रहता है ।

ये रूप, रस, गन्ध और स्पर्शगुण पार्थिव परमाणु मे तो अनित्य हैं, क्योकि अग्नि के संयोग से उनमे पाकज रूप वगैरह की उत्पत्ति देखी जाती है । तथा जल और वायु के परमाणुओ मे यथासम्भव नित्य हैं, क्योकि

१. वैशेषिकसूत्र, १।१।१५ ।
२. वैशेषिकसूत्र, १।१।५ ।
३ प्रशस्तपाद भाष्य, पृष्ठ ६८ ।
४. प्रशस्तपाद भाष्य, पृष्ठ ७० ।
५. प्रशस्तपाद भाष्य, पृष्ठ ७० ।

उनमें इनकी किसी अन्य प्रकार से उत्पत्ति नहीं देखी जाती। पार्थिव कार्य-द्रव्य घटादि में वे रूपादि अनित्य हैं।

एक आदि व्यवहार में जो हेतु है, वह संख्या है। एकत्व, द्वित्व आदि उसका लक्षण है। वह संख्या एक द्रव्या भी है और अनेक द्रव्या भी। एक संख्या एक द्रव्या है और द्वित्व आदि संख्या अनेक द्रव्या हैं। यह बात प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है और अनुमान से भी। नित्य द्रव्यों मे एकत्व संख्या नित्य है और कार्य-द्रव्यों मे अनित्य है। दो से लेकर अन्तिम संख्या पर्यन्त सब संख्याएँ सापेक्ष होने से अनित्य हैं।

[1]परिमाण के व्यवहार मे जो कारण है, उसे परिमाण कहते हैं। उसके चार भेद हैं—महत्, अणु, दीर्घ और ह्रस्व। महत् दो प्रकार का है—नित्य और अनित्य। आकाश, काल, दिशा और आत्मा में परम महत्त्व नित्य है। द्वयणुक आदि द्रव्यो में अनित्य है। अणु परिमाण भी नित्य और अनित्य के भेद से दो प्रकार का है। परमाणु और मन मे परिमण्डल रूप परिमाण नित्य है और द्वयणुक मे अनित्य है। बेर, आँवला और बेल यद्यपि महत् परिमाण वाले हैं, फिर भी उनमे महत् का प्रकर्ष न होने से अणु व्यवहार भी होता है। द्वयणुक मे ह्रस्वत्व अनित्य है तथा त्र्यणुक वगैरह मे दीर्घत्व अनित्य है।

शंका—द्वयणुक मे वर्तमान अणुत्व और ह्रस्वत्व मे और त्र्यणुक आदि मे वर्तमान महत्त्व और दीर्घत्व में परस्पर से क्या अन्तर है ?

समाधान—'महान् मे से दीर्घ को लाओ' और 'दीर्घों मे से महत् को लाओ' इस प्रकार व्यवहार-भेद की प्रतीति होने से प्रत्येक प्राणी को महत्त्व और दीर्घत्व मे भेद प्रसिद्ध है और अणुत्व तथा ह्रस्वत्व मे अन्तर तो योगीजन ही जान जा सकते हैं।

ये महत् आदि परिमाण रूप आदि से भिन्न हैं, क्योंकि रूपादि प्रत्यय से विलक्षण बुद्धि के द्वारा ही उनका ग्रहण होता है।

जिसके कारण सयुक्त द्रव्य भी 'इसमे यह अलग है' इस प्रकार पृथक् किया जाता है, इस प्रकार के व्यवहार में कारण पृथक्त्व नाम का गुण है। एकत्व संख्या से विशिष्ट पृथक्त्व-गुण एकत्व संख्या की तरह नित्य भी है और अनित्य भी। दो पृथक्त्व से लेकर चरम संख्या वाले पृथक्त्व पर्यन्त सब पृथक्त्व द्वित्व आदि संख्या की तरह अनित्य ही होते हैं।

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० २७४।

अप्राप्ति पूर्वक प्राप्ति को संयोग कहते हैं अर्थात् जुदे द्रव्यों का परस्पर में संयुक्त होने का नाम संयोग है और प्राप्ति पूर्वक अप्राप्ति को विभाग कहते हैं अर्थात् मिले हुए दो द्रव्यों के वियुक्त होने का नाम विभाग है। ये दोनो द्रव्यो मे क्रम से संयुक्त और विभक्त प्रत्यय के जनक होते हैं। जिनके द्वारा 'यह पर है' और 'यह अपर है', इस प्रकार के शब्द व्यवहार तथा ज्ञान होते हैं, उनको क्रम से परत्व और अपरत्व कहते हैं। ये अनित्य ही हैं।

बुद्धि से लेकर प्रयत्न पर्यन्त सब गुण अनित्य ही हैं। गुरुत्व-गुण पतन क्रिया (गिरने) में कारण है। यह पृथिवी और जल मे रहता है तथा अणु में नित्य है और द्वयणुक वगैरह मे अनित्य है। स्यन्दन (बहने) मे जो कारण है, वह द्रवत्व है। यह द्रवत्व-गुण पृथिवी, जल और अग्नि मे रहता है। पृथिवी और अग्नि मे द्रवत्वगुण नैमित्तिक होने से अनित्य है, जल मे स्वाभाविक है। जलीय अणुओं में नित्य है और जलीय द्वयणुक आदि मे अनित्य है। स्निग्ध प्रत्यय मे जो कारण है, उसे स्नेहगुण कहते हैं। यह जल मे ही रहता है। जलीय अणुओं में नित्य है और द्वयणुक वगैरह मे अनित्य है।

[1]संस्कार के तीन भेद हैं—वेग, भावना और स्थितस्थापक। वेग नाम का संस्कार पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और मन नामक मूर्त्त द्रव्यो मे प्रयत्न और अभिघात विशेष की अपेक्षा लेकर क्रिया के द्वारा उत्पन्न होता है और नियत दिशा की ओर ले जाता है तथा स्पर्शवान् द्रव्य के साथ संयोग का विरोधी है। भावना नामक सस्कार आत्मा का गुण है, यह ज्ञान से उत्पन्न होता है तथा ज्ञान का कारण है। देखे गये, सुने गये तथा अनुभूत पदार्थों के स्मरण और प्रत्यभिज्ञान रूप कार्यों के द्वारा उसका सद्भाव माना जाता है। स्थितस्थापक नामक सस्कार मूर्त्त द्रव्य का गुण है, क्योंकि यह संस्कार मूर्त्त द्रव्य में रहता है, उसे प्रयत्नपूर्वक अन्यथा कर देने पर भी यह उसे पहले की तरह ही कर देता है। जैसे ताड़ के पत्ते को फैलाकर छोड़ देने पर वह पुन. वैसा ही हो जाता है। इसी तरह धनुष, शाखा, वस्त्र वगैरह मे इस संस्कार का कार्य देखा जाता है। ये तीनों संस्कार अनित्य ही होते हैं। धर्म और अधर्म आत्मा के विशेष गुण हैं तथा अनित्य हैं। शब्द आकाश का विशेष गुण है, वह भी अनित्य है।

जैन :

वैशेषिक ने 'जो द्रव्य के आश्रय हो' इत्यादि जो गुणों का लक्षण कहा है वह समीचीन नहीं है, क्योंकि वैशेषिक के द्वारा कल्पित द्रव्य का निषेध कर

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २७५।

दिये जाने पर गुण द्रव्याश्रित कैसे हो सकता है ? अथवा, गुणों का उक्त लक्षण रहा आये, तथापि 'गुण चौबीस ही हैं' ऐसा नियम तो नहीं बन सकता, क्योंकि लोक में शौर्य-औदार्य आदि अनेक गुण सुने जाते हैं। वैयाकरणों के मत में विशेष्य द्रव्य है और विशेषण गुण है, यह प्रसिद्ध है। वैद्यकशास्त्र में विशद, स्थिर, तीक्ष्ण, पिच्छल आदि गुण प्रसिद्ध हैं। सांख्य सत्त्व, रज और तम को गुण मानते हैं, तब गुणों की संख्या कैसे निर्धारित की जा सकती है ?

तथा[1] आप एक घटादि अवयवी में रूपादि गुणों को निरंश एक रूप मानते हैं। ऐसी स्थिति में किसी छोटे से छिद्र में से घटादि को देखने पर सम्पूर्ण घट में रहने वाले रूपादि का दर्शन होना चाहिये, अन्यथा रूप निरंश एक रूप नहीं हो सकता। क्योंकि निरंश एक रूप वस्तु प्रतिभास और अप्रतिभास रूप विरोधी धर्मों का आधार नहीं हो सकती। इसी तरह कहीं पर जल सिञ्चन से पृथिवी में गन्ध की अभिव्यक्ति होने पर समस्त पृथिवी तल मे विद्यमान गन्ध गुण की अभिव्यक्ति होना चाहिए, अन्यथा अभिव्यक्त और अनभिव्यक्त रूप विरोधी धर्मों का आधार होने से कोई एक गुण नहीं हो सकता। अग्नि के संयोग से घट वगैरह मे पाकज रूप की उत्पत्ति होने मे तो कोई विवाद नहीं है, हम लोग भी ऐसा मानते हैं। किन्तु अपेक्षा बुद्धि से दो आदि संख्यायें उत्पन्न होती हैं, ऐसा मानना युक्त नहीं है। एक सख्या की तरह दो आदि सख्या भी पदार्थों मे स्वभाव सिद्ध है। केवल उसका व्यवहार अपेक्षा बुद्धि से जन्य है, स्वरूप नहीं। जैसे अपने कारणो से स्थूलता आदि धर्मों से युक्त उत्पन्न हुये बेर वगैरह मे स्थूलता का व्यवहार अपेक्षा बुद्धि से होता है, इसी तरह द्वित्व आदि संख्या का व्यवहार भी अपेक्षा बुद्धि से होता है। कोई प्रामाणिक ऐसा नहीं कहता कि अपेक्षा बुद्धि से पदार्थों की उत्पत्ति होती है। यदि इच्छा मात्र से अर्थ की उत्पत्ति होने लगे तो सभी को इष्ट अर्थ की सिद्धि का प्रसङ्ग आता है

तथा, एक बुद्धि में प्रतिभासमान एक-एक गुण कैसे कभी द्वित्व बुद्धि को उत्पन्न करते हैं और कभी बहुत्व को ? उनके एकत्व में तो कोई विशेषता है नहीं। शायद कहा जाये कि जो एक-एक गुण दो होते हैं, वे द्वित्व संख्या को उत्पन्न करते हैं और जो बहुत होते हैं, वे बहुत्व संख्या को उत्पन्न करते हैं। किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि द्वित्व आदि संख्या की उत्पत्ति से पहले न उनमें द्वित्व सम्भव है और न बहुत्व।

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २७६

दूसरी बात यह है कि संख्या गुण नहीं हो सकती, क्योंकि वह गुणो में भी रहती है। एक ज्ञान, दो ज्ञान, चौबीस गुण, छह पदार्थ इत्यादि प्रतीति से गुणों में भी सख्या का सद्भाव प्रसिद्ध है। शायद कहा जाये कि 'एक ज्ञान' आदि प्रत्यय औपचारिक हैं, किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि औपचारिक प्रत्यय का लक्षण है, जिसका प्रयोग निर्बाध रूप से नहीं किया जा सकता, जैसे बच्चे मे सिंह व्यवहार। किन्तु एक ज्ञान आदि व्यवहार बिना किसी प्रकार के स्खलन के अबाध गति से होता है।

वैशेषिक ने जो परिमाण के महत्, अणु, दीर्घ और ह्रस्व—ये चार भेद कहे हैं, वे भी ठीक नहीं हैं, क्योंकि ये तो वस्तु के आकार-भेद के सिवाय अन्य कुछ नहीं हैं। यदि वस्तु के आकार-भेद को भी गुण मानते हो तो गोल, त्रिकोण, चतुर्कोण आदि को भी गुण मानना होगा और ऐसी स्थिति मे परिमाण के चार ही भेद नहीं हो सकते।

वैशेषिक[1] ने कहा है कि बेर, आँवले वगैरह मे अणु व्यवहार गौण है, किन्तु उसमे किसी को भी गौणता की प्रतीति नहीं होती। जैसे सिंह मे सिंह व्यवहार मुख्य है और बालक मे सिंह व्यवहार गौण है, इसमे किसी को कोई विवाद नहीं होता। उसी तरह द्वयणुक मे अणुपना और ह्रस्वपना मुख्य है, अन्यत्र गौण है, इस प्रकार की प्रतीति किसी को भी नहीं होती।

दूसरी बात यह है कि परिमाण आपेक्षिक है, अत वह गुण नहीं हो सकता। रूप वगैरह या सुख वगैरह गुणो मे आपेक्षिकता नहीं देखी जाती। नील-विशेषनील, सुख-अधिकसुख—इस प्रकार का जो आपेक्षिक व्यवहार पाया जाता है, वह भी नील और सुख की हीनाधिकता को लेकर है, गुणो के स्वरूप को लेकर नहीं है।

भेद-व्यवहार का जो कारण है, वह पृथक्त्व नाम का गुण है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योकि सभी पदार्थों मे जो असाधारण भेद पाया जाता है, उसी से भेद-व्यवहार होता है। उसके लिये पृथक्त्व नाम का एक गुण मानने की क्या आवश्यकता है? अन्यथा अभेद-व्यवहार के लिये एक अपृथक्त्व नाम का भी गुण मानना पड़ेगा।

पदार्थों की अन्तराल रहित रूप से अवस्थिति का नाम ही सयोग है। जो पदार्थ नैरन्तर्य रूप से रहते हैं, उनमे सयुक्तपने का व्यवहार होता है। यदि

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २७७

नैरन्तर्य रूप संयोग को गुण मानते हैं तो समीपता, दूरता वगैरह को भी गुण मानना होगा। संयोग के अभाव को विभाग कहते हैं। विभक्त पदार्थों में कोई नया गुण तो उत्पन्न होता नहीं। जिनमें विभाग नाम का गुण नहीं पाया जाता ऐसे सह्य और विन्ध्य वगैरह में भी विभक्त व्यवहार देखा जाता है। सह्य और विन्ध्य पर्वतों मे विभाग गुण तो है नहीं, क्योंकि संयोग विशिष्ट पदार्थों में ही विभाग नाम का गुण वैशेषिक ने माना है। प्रशस्तपाद भाष्य[1] में प्राप्ति पूर्वक अप्राप्ति को विभाग कहा है—'प्राप्तिपूर्विकाऽप्राप्तिर्विभागः।' सह्य और विन्ध्य मे विभक्त प्रत्यय गौण भी नहीं है, क्योंकि 'सह्य और विन्ध्य विभक्त हैं' तथा 'दो मेढें अलग-अलग हैं'—इन दोनो प्रत्ययो में कोई विलक्षणता नहीं है, जिससे एक को मुख्य माना जाये और दूसरे को गौण।

संख्या की तरह परत्व और अपरत्व भी आपेक्षिक हैं। जो निकट होता है उसे पर कहते हैं और जो दूर होता है उसे अपर कहते हैं। उसके लिये परत्व और अपरत्व गुणों की क्या आवश्यकता है? तथा यह पर-अपर आदि व्यवहार सत्ता द्रव्यत्व वगैरह मे भी होता है। यदि वह सत्ता वगैरह मे संकेतवश स्वरूप मात्र से ही हो सकता है तो अन्यत्र भी उसी तरह क्यो नहीं हो सकता? इसके लिये उनमे परत्व और अपरत्व गुणो को मानने की क्या आवश्यकता है? इस तरह तो मध्यत्व नाम का भी एक गुण मानना होगा, क्योंकि पर-अपर व्यवहार की तरह कालकृत और दिशाकृत मध्य व्यवहार भी देखा जाता है।

[2]पतन-क्रिया से गुरुत्व का अनुमान किया जाता है, ऐसा कहना भी युक्त नहीं है। क्योंकि हथेली पर रखे हुये स्वर्णपिण्ड मे पतन-क्रिया के बिना भी यह दस पल है और यह पाँच पल है, ऐसी प्रतीति होती है। तथा द्रव्य की पतन-शक्ति का नाम गुरुत्व है। और प्रत्येक द्रव्य मे अपना-अपना काम करने वाली अनेक प्रकार की शक्तियाँ हैं। उनको कहाँ तक गिना जा सकता है। पदार्थों में षट्कारक शक्तियाँ प्रधान हैं और उनके भेद-प्रभेद अनन्त हैं। यदि उन्हें नहीं गिना जा सकता तो गुरुत्व की गणना से क्या लाभ? तथा यदि गुरुत्व एक गुण है तो लघुत्व भी गुण होना चाहिये। यदि लघुत्व गुरुत्व का अभाव रूप होने से गुण नहीं है तो गुरुत्व भी लघुत्व का अभाव रूप होने से गुण नहीं है। यदि कहोगे कि गुरुत्व के अभाव रूप होने पर उसमें तारतम्य (कमोबेशी-

---

१. प्रशस्तपाद भाष्य, पृष्ठ १०७

२. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २७८

पना) नहीं होना चाहिये, तो लघुत्व के भी अभाव रूप होने पर उसमें तारतम्य नहीं होना चाहिये। तथा जिसमें पतन-क्रिया होती है, केवल उसी में गुरुत्व व्यवहार नहीं होता, अपितु अपने पूज्य में 'मेरा गुरु' ऐसा व्यवहार भी देखा जाता है।

द्रवत्व भी एक शक्ति विशेष है। और पदार्थों की शक्तियों को गिना नहीं जा सकता है। वह द्रवत्व तीन द्रव्यो मे रहता है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अग्नि में द्रवत्व नहीं है। तथा सुवर्ण वगैरह में तैजसपना असिद्ध है। सिद्ध भी हो तो उसमे जो द्रवत्व पाया जाता है, वह संयुक्त-समवाय-सम्बन्ध से पाया जाता है। अतः वह पार्थिव है। सभी पृथिवियो मे भी द्रवत्व नही रहता, सूखी लकडी मे उसका अभाव है।

स्नेहगुण भी शक्ति विशेष से भिन्न नहीं है। न वह जल का विशेष गुण है, क्योंकि पार्थिव घी-तेल वगैरह मे पाया जाता है और जल में नहीं पाया जाता। शुद्ध जल से स्नान किये हुये पुरुष में स्निग्ध प्रत्यय नहीं देखा जाता। शायद कहा जाये कि आटे मे जल डालने से आटा बँध जाता है, किन्तु ऐसा तो पार्थिव लाख मे भी देखा जाता है।

तीन प्रकार का सस्कार भी ठीक नहीं है, क्योंकि वेग नाम का सस्कार क्रिया से भिन्न नही है, क्रिया की शीघ्रता को ही वेग कहते हैं।[1] इसी तरह भावना रूप संस्कार भी आत्मा की स्मरण-जनन शक्ति से भिन्न नहीं है। स्थितस्थापक सस्कार भी यथावस्थित वस्तु स्थापन की शक्ति से भिन्न नहीं तथा यह जो वस्तु जिस रूप से स्थित है, उसका नियम से उसी रूप से स्थापन नही करता है—शाखा वगैरह को नीचे की ओर खीचकर पुन छोड देने पर शाखादि का गमन तथा स्थापन पुन ज्यो का त्यो नहीं देखा जाता।

धर्म और अधर्म भी आत्मा के गुण नहीं हो सकते, क्योंकि उसके सम्बन्ध मे विवाद पाया जाता है। जैनमत मे तो धर्माधर्म पौद्गलिक हैं, सांख्यमत मे बुद्धि के धर्म हैं, मीमांसाशास्त्र मे कल्याण साधन की शक्ति से विशिष्ट द्रव्य वगैरह को धर्म-अधर्म कहा है और बौद्ध-आगम में ज्ञान की ही वासना नामक शक्ति को धर्म-अधर्म कहा है।

इसी तरह शब्द के भी आकाश का गुण होने मे मतभेद है। जैन शब्द को पौद्गलिक मानते हैं, मीमांसक नित्य द्रव्य मानते हैं, शिक्षाकार मीमांसक

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २७९।

शब्द को आकाशीय मानते हैं, सौत्रान्तिक परमाणु रूप मानते हैं, वैयाकरण स्फोट रूप मानते हैं तथा सांख्य प्रकृति का परिणाम मानते हैं। अतः वैशेषिक के द्वारा माना गया गुण नामक पदार्थ भी विचार करने पर सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार कर्म नाम का पदार्थ भी सिद्ध नहीं होता।

३. कर्म-पदार्थ :

वैशेषिक

[1]गुण के लक्षण से कर्म का लक्षण भिन्न है, अत गुण-पदार्थ के निराकरण से कर्म-पदार्थ का निराकरण कैसे हो सकता है? उसका लक्षण इस प्रकार कहा है—

'एकद्रव्यमगुण संयोगविभागेष्वनपेक्षं कारणं कर्म।'[2]

अर्थात् एक द्रव्य जिसका आश्रय होता है, जो न स्वयं गुण रूप है और न जिसमें गुण रहते हैं तथा संयोग और विभाग के करने मे जो अन्य कारण की अपेक्षा नहीं रखता, उसे कर्म कहते हैं।

उस कर्म के पाँच भेद हैं— उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन। हाथ ऊपर उठाता है, पैर नीचे रखता है, पंजे को संकोचता है, अंगुली को फैलाता है—इत्यादि विशिष्ट प्रत्यय देखे जाते हैं, अत कर्म-द्रव्य से अर्थान्तर है। जो कर्म ऊपर के प्रदेशो से सयोग और नीचे के प्रदेशो से वियोग कराता है, उसे उत्क्षेपण नाम का कर्म कहते हैं। जैसे हाथ मे मूसल लेकर धान कूटते समय ऊपर के प्रदेशो से सयोग का कारण और नीचे के प्रदेशो से विभाग का कारण कर्म उत्पन्न होता है। ऊपर के प्रदेशो से विभाग का कारण और नीचे के प्रदेशो से संयोग का कारण जो कर्म होता है, उसे अपक्षेपण कहते हैं। सीधी वस्तु को मोडने मे कारण जो कर्म है, वह आकुञ्चन है, जैसे अगुली वगैरह को मोडना आकुञ्चन है। आकुञ्चन से उल्टा कर्म प्रसारण है। जो अनियत दिग्देशवर्ती घट आदि से संयोग और विभाग का कारण कर्म होता है, उसे गमन कहते हैं। उत्क्षेपण वगैरह चार कर्म नियत दिग्देशवर्ती पदार्थों से ही संयोग और विभाग के कारण होते हैं, अत पाँच ही कर्म हैं। भ्रमण, स्पन्दन, रेचन वगैरह का अन्तर्भाव गमन में ही हो जाता है।

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २८०।

२. वैशेषिकसूत्र, १।१।१६।

जैन :

[1]वैशेषिकों ने जो कर्म का लक्षण एक द्रव्य आदि कहा है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि उनके द्वारा माने गये द्रव्य का निराकरण कर देने पर वह उसका लक्षण नहीं हो सकता। अथवा वह द्रव्य रहे, किन्तु वह द्रव्य क्रियाशील है या अक्रियाशील, अथवा उभयरूप है या अनुभय रूप ? यदि क्रियाशील है तो द्रव्य से भिन्न कर्म की कल्पना करना व्यर्थ है। क्रियाशील मे भी कर्म की कल्पना करने पर अनवस्था का प्रसङ्ग आता है। तथा वह द्रव्य सर्वदा क्रियाशील है या कभी-कभी ? प्रथम पक्ष में सर्वदा क्रियाशील होने से वायु की तरह वह द्रव्य कभी भी नहीं ठहरेगा। यदि वह कभी-कभी क्रियाशील है तो इसका यह मतलब हुआ कि पहले यह अक्रियाशील है, पश्चात् क्रियाशील होता है। ऐसी स्थिति मे वह द्रव्य पहली अक्रियाशीलता को त्यागकर क्रिया-शीलता को अपनाता है या बिना त्यागे ही। यदि त्यागकर अपनाता है तो अणु वगैरह द्रव्य अनित्य ठहरते हैं, क्योंकि स्वभाव को छोड़ना ही अनित्यता का लक्षण है। दूसरा पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि अक्रियाशीलता को छोड़े बिना क्रियाशीलता नहीं आ सकती। अत. क्रियाशील अणु आदि द्रव्य तो कर्म के आश्रय नहीं हो सकते। और न अक्रियाशील द्रव्य ही आकाश वगैरह की तरह कर्म का आश्रय हो सकता है। यदि कहोगे कि अक्रियाशील द्रव्य उत्तरकाल मे क्रियाशील होने पर कर्म का आश्रय होता है तो उसको अनित्यता का प्रसङ्ग आता है।

यदि वह द्रव्य उभय रूप है तो दोनो पक्षों मे ऊपर जो दोष दिये गये हैं, उन सबका प्रसङ्ग आता है। तथा द्रव्य क्रम से दोनो स्वभाव वाला है या एक साथ ? एक साथ तो दोनो स्वभाव वाला हो नहीं सकता, क्योंकि क्रिया-स्वभाव और अक्रिया-स्वभाव एक द्रव्य मे एक साथ नहीं रह सकते, दोनो का समय भिन्न-भिन्न है। जो विभिन्न कालवर्ती होते हैं, वे एक साथ नहीं रह सकते, जैसे एक ही अगुली मे सकोचन और प्रसारण एक साथ नहीं रह सकते। यदि वे दोनो स्वभाव एक साथ रहें तो परस्पर विरोधी दो धर्मों का आधार होने से परमाणु वगैरह मे भेद का प्रसङ्ग आने से एक रूपता में व्याघात आता है। क्रम से उभयरूप मानने पर अक्रियाशील स्वभाव को छोड़कर या बिना छोड़े क्रियाशीलता के उत्पन्न होने पर पहले कहे गये दोष आते हैं।

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २८०।

अनुभय व्यवस्था तो युक्त नहीं है, क्योंकि विधि और निषेध रूप धर्मों में से एक का निषेध करने पर दूसरे की विधि अवश्यम्भावी है। अतः सर्वथा एक स्वभाव वस्तु में कर्म नहीं हो सकता, इसलिये वैशेषिको का कर्म-पदार्थ भी सिद्ध नहीं होता।

अथवा कर्म रहा आये, फिर भी 'पदार्थ के एक देश से दूसरे देश तक ले जाने मे कारण हलन-चलन रूप परिणाम को कर्म कहते हैं' इतने से ही काम चल सकता है, अत कर्म के पाँच भेदो का कथन युक्त नहीं है। उत्क्षेपण वगैरह का अन्तर्भाव उसी मे हो जाता है। यदि उत्क्षेपण वगैरह मे कुछ विशेषता देखकर उन्हे भिन्न मानते हो तो भ्रमण वगैरह को भी भिन्न मानना पडेगा और तब कर्म के पाँच ही भेद नहीं हो सकते।

अत प्रमाण के द्वारा जो जिससे सर्वथा अर्थान्तर प्रतीत नहीं होता, उसको वैसा नहीं मानना चाहिये। किसी भी प्रमाण से कर्म अर्थ से भिन्न प्रतीत नहीं होता, अत उसे अर्थ का परिणाम विशेष मानना ही उचित है।

४ सामान्य-पदार्थ :

वैशेषिक :

[1]द्रव्य, गुण और कर्म के निमित्त के बिना जो बाधा रहित अनुगत ज्ञान में निमित्त होता है, उसे सामान्य कहते हैं। वह सामान्य दो प्रकार का है—पर और अपर। पर सामान्य का नाम सत्ता है। वह सत्ता समस्त द्रव्य गुण कर्मों मे अनुगत प्रत्यय का ही कारण होने से सामान्य रूप ही है, विशेष रूप नही। द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व वगैरह अपर-सामान्य हैं। ये अपने आश्रयभूत द्रव्य, गुण और कर्म मे अनुगत प्रत्यय का कारण होने से 'सामान्य' कहे जाते हैं और विजातीयो से अपने आश्रय के 'यह इससे भिन्न है' इस प्रकार के व्यावृत्त प्रत्यय मे कारण होने से विशेष भी कहे जाते हैं। इसका खुलासा इस प्रकार है —

गुण मे जो 'यह द्रव्य नहीं है' या द्रव्य मे जो 'यह गुण नहीं है' इस प्रकार की व्यावृत्त बुद्धि उत्पन्न होती है, उसमें ये द्रव्यत्व और गुणत्व ही कारण हैं, अन्य नहीं। एक ही में सामान्य और विशेष प्रत्यय के होने मे भी कोई विरोध नहीं है, अपेक्षा भेद से एक ही अपर-सामान्य में दोनों बुद्धियाँ हो सकती हैं। उस सामान्य के सद्भाव मे प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, क्योंकि विभिन्न गौ आदि से

---

१ न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २८३

भिन्न एक अनुगत रूप सामान्य 'गौ गौ' इस प्रकार इन्द्रियजन्य ज्ञान में प्रतिभासमान होता है।

[1]अनुगत एकाकार वस्तु के आलम्बन के बिना इस प्रकार का प्रत्यय नहीं हो सकता। यदि उसे निर्हेतुक माना जायेगा तो उसके सर्वदा सत्त्व अथवा सर्वदा असत्त्व का प्रसङ्ग आता है। तथा नियामक का अभाव होने से 'गौ गौ' यह प्रत्यय खण्डी गौ आदि की तरह अन्यत्र भी हो सकता है।

अनुमान भी उसके अस्तित्व का साधक है। वह अनुमान इस प्रकार है—गौ, घोडा, भैंस और शूकर वगैरह मे गौ आदि शब्द व्यवहार तथा ज्ञान, समय, आकृति, व्यक्ति आदि से भिन्न किसी अन्य निमित्तमूलक होते हैं, क्योंकि उनका विषय गौ आदि होते हुये वे व्यक्ति आदि के स्वरूप के वाचक शब्द तथा ज्ञान से भिन्न शब्द तथा ज्ञान विशेष हैं। जैसे उन्हीं गौ आदि मे बछडे वाली गौ, बोझा लदा भैंसा, तीर लगा शूकर, अकुश सहित हाथी आदि शब्द-विशेष और ज्ञान-विशेष अन्य निमित्त से होते हैं। तथा जो प्रत्यय जिस वस्तु के आधार से विलक्षण होता है, वह उससे भिन्न अन्य निमित्त से होता है, जैसे वस्त्र आदि मे रक्त आदि प्रत्यय। उसी तरह व्यक्तियों में यह गौ आदि प्रत्यय भी अन्य निमित्त से होता है। तथा गौ आदि मे 'गौ गौ' इस प्रकार का अनुगत प्रत्यय पिण्ड आदि से भिन्न निमित्तो से होता है, विशिष्ट प्रत्यय होने से, जैसे नील आदि प्रत्यय। गोत्व गोव्यक्ति से भिन्न है, भिन्न प्रत्यय का विषय होने से, जैसे रूप, स्पर्श आदि प्रत्यय। व्यक्ति से गोत्व भिन्न है, व्यक्ति का गोत्व कहे जाने से, जैसे चैत्र का घोडा। 'गौ गौ' ये अभिन्न शब्द और प्रत्यय अनुगत वस्तु निमित्तक हैं। इत्यादि अनुमान से सामान्य द्रव्यादि से भिन्न प्रतिभासित होता है।

जैन

[2]वैशेषिकों का कहना है कि सामान्य के सद्भाव में प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, तो गोत्व आदि सामान्य को कौन सा प्रत्यक्ष जानता है, निर्विकल्पक या सविकल्पक? निर्विकल्पक तो जान नहीं सकता, क्योंकि वह विचार से शून्य होने के कारण 'गौ गौ' इत्यादि उल्लेख के द्वारा अनुवृत्त वस्तु का परामर्श नहीं हो सकता। यदि हो सकता है तो निर्विकल्पक प्रत्यक्ष मे आपके द्वारा कथित

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २८४।

२. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २८५।

स्वरूप वाला वर्ण, आकृति और अक्षराकार से शून्य, नित्य, एक और व्यापक सामान्य प्रतिभासित नहीं होता, यदि होता तो विवाद को स्थान ही नहीं रहता, क्योंकि जो अर्थ अपने स्वरूप से प्रतिभासित होता है, उसमें किसी को विवाद नहीं होता। सविकल्पक प्रत्यक्ष भी उक्त सामान्य को नहीं जान सकता, क्योंकि सविकल्पक निर्विकल्पक के पश्चात् होता है, अत. वह निर्विकल्पक के द्वारा जाने गये अर्थ को ही जानता है। यदि निर्विकल्पक सामान्य को जानता है और फिर उसे सविकल्पक जानता है तो गृहीतग्राही होने से सविकल्पक एकदम अप्रमाण ठहरता है।

तथा अनुगत प्रत्यय का क्या रूप है? जो वह गौ है, वही यह गौ है? या यह भी गौ है, यह भी गौ है? पहला पक्ष अयुक्त है, क्योंकि एक चितकबरी और एक पीली गौ का प्रतिभास होने पर 'जो यह गौ है वही यह गौ है' ऐसा प्रतिभास नहीं होता। अन्यथा दोनो के ऐक्य होने का प्रसङ्ग आता है। दूसरा पक्ष युक्त[1] है, क्योंकि 'यह' प्रत्यय के द्वारा परस्पर मे विलक्षण चितकबरी आदि विशेष का परामर्श करके 'गौ' इस प्रत्यय के द्वारा सदृश परिणाम का परामर्श किया जाता है। अपने कारणो से वस्तु का रूप ही इस प्रकार का उत्पन्न होता है, जो इस प्रकार की बुद्धि को उत्पन्न करता है। किन्तु व्यक्ति से भिन्न नित्यादि रूप सामान्य कोई नहीं है। यदि सामान्य व्यक्ति से भिन्न होता तो व्यक्ति का ग्रहण हुये बिना भी सामान्य का ज्ञान हो जाता। जैसे घट से भिन्न पट घट का ग्रहण न होने पर भी जाना जाता है, उसी तरह व्यक्ति से भिन्न सामान्य का ग्रहण व्यक्ति का ग्रहण न होने पर भी होना चाहिये, किन्तु व्यक्ति को जाने बिना सामान्य को नहीं जाना जा सकता, इसलिये सामान्य व्यक्ति से भिन्न नहीं है।

वैशेषिक—व्यक्ति सामान्य का व्यञ्जक होता है, अतः व्यक्ति के बिना सामान्य का ग्रहण नहीं होता।

जैन—तो दीपक की तरह पहले व्यक्ति का ग्रहण होना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि ऐसा माना है कि पहले सामान्य का ग्रहण होता है, पीछे व्यक्ति का ग्रहण होता है। तथा यदि व्यक्ति व्यञ्जक है तो गोत्व सामान्य का व्यञ्जक अश्व व्यक्ति भी हो सकता है। शायद कहा जाये कि अपना व्यक्ति ही सामान्य का व्यञ्जक होता है, किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि सामान्य की सिद्धि के बिना अपने व्यक्ति को ही कह सकना सम्भव नहीं है।

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २८६।

अथवा स्वव्यक्ति ही सामान्य का व्यञ्जक रहे, तथापि यदि व्यक्ति स्वभाव से ही सामान्य प्रत्यय को उत्पन्न करने वाली समान शक्ति के कारण सामान्य का व्यञ्जक होता है तो उतने से ही सामान्य का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, फिर एक सामान्य नाम का पदार्थ मानने की क्या आवश्यकता है ?

वैशेषिक—यदि व्यक्तियो मे अनुगत एक सामान्य नही मानते तो उनमे 'गौ गौ' इस प्रकार का अनुगत प्रत्यय और एक शब्द का सन्निवेश कैसे हो सकता है ? विभिन्न स्वभाव वाले घट, पट वगैरह मे इस प्रकार का अनुगत प्रत्यय और एक शब्द का सन्निवेश नहीं देखा जाता ।

जैन—सामान्यो मे सामान्य के नहीं होने पर भी 'सामान्य सामान्य' इस प्रकार का अनुगत प्रत्यय और एक शब्द का सन्निवेश देखा जाता है । [1]जो जिसके अभाव मे भी होता है, उसका वह कारण नहीं होता ।

यदि कहोगे कि सामान्यो मे जो 'सामान्य सागान्य' इस प्रकार का प्रत्यय होता है, उसका कारण समवाय है । तो प्रश्न होता है कि ऐसा क्यो ? यदि कहोगे कि सामान्यो मे अपर-सामान्य की प्रतीति नहीं होती तो क्या व्यक्तियो मे अपर-सामान्य की प्रतीति होती है ? यदि इसी प्रत्यय से व्यक्तियो मे अपर-सामान्य की प्रतीति होती है तो सामान्यो मे भी होनी चाहिये । यदि सामान्यो मे अपर-सामान्य की प्रतीति होने मे समवाय कारण है तो व्यक्तियो मे भी अपर-सामान्य की प्रतीति के होने मे समवाय को ही कारण मानो, सामान्य की कल्पना की क्या आवश्यकता है ? जैसे जिस समवाय सम्बन्ध से गोत्व गो व्यक्तियो मे रहता है, उसी समवाय सम्बन्ध से अश्वत्व घोड़ों मे रहता है, अत एक समवाय सम्बन्ध के कारण सामान्यो मे सामान्य प्रत्यय होता है, वैसे ही जिस समवाय सम्बन्ध से चितकबरी गौ अपने अवयवो मे रहती है उसी समवाय सम्बन्ध से मुण्डी गौ अपने अवयवो मे रहती है, अत. 'गौ गौ' इस प्रत्यय का कारण भी समवाय सम्बन्ध होना चाहिये ।

तथा, सामान्य व्यक्तियो से भिन्न है या अभिन्न ? यदि अभिन्न है तो व्यक्तियो की तरह सामान्य की भी उत्पत्ति और विनाश का प्रसङ्ग आता है । यदि भिन्न है तो व्यक्ति की उत्पत्ति होने पर सामान्य उत्पन्न होता है या नहीं ? यदि उत्पन्न होता है तो व्यक्ति की तरह सामान्य भी अनित्य

---

१ न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ, २८७ ।

ठहरता है। यदि व्यक्ति के उत्पन्न होने पर सामान्य उत्पन्न नहीं होता, तो वह सामान्य व्यक्ति के उत्पत्ति स्थान मे रहता है या नही ? यदि रहता है तो व्यक्ति की उत्पत्ति से पहले भी वहाँ सामान्य का ग्रहण होना चाहिये। यदि कहा जाये कि सामान्य व्यक्ति के आश्रित है, इसलिये उसके अभाव में उसका ग्रहण नहीं होता, तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि कुण्ड और बेर की तरह उपकार्य-उपकारकभाव के होने पर ही आश्रय-आश्रयीभाव सम्भव है। बेर भारी होते हैं, अत: कुण्ड उनको अपने मे रखकर नीचे गिरने से बचाता है, अत बेरो का उपकार करने के कारण वह उनका आधार होता है। किन्तु सामान्य तो निष्क्रिय है, अत: उसका पतन न होने से कोई आधार सम्भव नहीं है। यदि सामान्य आश्रित है तो आश्रय का अभाव होने पर उसका भी अभाव प्राप्त होता है।

[1]यदि कहोगे कि व्यक्ति के उत्पत्ति स्थान मे सामान्य नहीं रहता, किन्तु किसी व्यक्ति के उत्पन्न होने पर दूसरे व्यक्ति मे से आ जाता है तो वह उस व्यक्ति को छोड़कर वहाँ आता है या बिना छोड़े ही आ जाता है, यदि छोड़कर आता है तो वह व्यक्ति सामान्य से रहित हो जायेगा। यदि व्यक्ति को छोडे बिना आता है तो उस व्यक्ति के साथ ही आता है या कुछ अंश से उसी व्यक्ति में रहता है और कुछ अंश से चला आता है ? पहले पक्ष मे चितकबरी गौ मे भी पीली गौ की प्रतीति होगी। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योकि वैशेषिको ने सामान्य को निरंश माना है। यदि वह सांश है तो व्यक्ति की तरह उसे अनित्यता का प्रसङ्ग आता है।

वैशेषिक सामान्य व्यापक है, अत एक साथ सर्वत्र रहता है।

जैन—तो वह सामान्य अपने व्यक्तियो में ही व्यापक है या सर्वत्र ? यदि सर्वत्र व्यापक है तो मुण्डी आदि गौओ के बीच मे पाये जाने वाले घोड़े आदि में भी गोत्व का प्रसङ्ग आता है, क्योंकि वह सर्वत्र पाया जाता है। यदि सामान्य अपने व्यक्तियो में ही व्यापक है तो प्रत्येक व्यक्ति मे सर्वात्मना रहता है या एकदेश से ? सर्वात्मना रहने पर या तो सब व्यक्ति एक हो जाते हैं या सामान्य व्यक्ति की तरह नाना ठहरता है। एकदेश से रहने पर पहले ही आपत्ति की जा चुकी है, अत: व्यक्तियों में नित्य आदि स्वभाव वाला सामान्य सिद्ध नहीं होता। इसके सम्बन्ध मे अनुमान देते हैं—जो जहाँ प्राप्त

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २८८।

होने योग्य होते हुये भी प्राप्त नहीं होता वह वहाँ नहीं है, जैसे किसी प्रदेश में घट। इन्द्रियो से सम्बन्ध होने पर भी व्यक्तियों में वैशेषिक के द्वारा कल्पित सामान्य की उपलब्धि नहीं होती। अत व्यक्तियो से सर्वथा भिन्न सामान्य सिद्ध नहीं होता। न उभय रूप ही सिद्ध होता है, क्योंकि उसमें उभय पक्ष में दिये गये दोष आते हैं। अत प्रत्यक्ष से तो सामान्य का सद्भाव सिद्ध नहीं होता। आपने जो अनुमान दिये हैं, उनसे भी सामान्य का सद्भाव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि वे सब अनुमान दूषणो से दूषित है।

बौद्ध :

[1]उक्त प्रकार से नित्य, निरश, एकरूप सामान्य अनुवृत्त प्रत्यय का कारण नहीं है, अत विजातीय से व्यावृत्ति ही उसका कारण है। सामान्य के बिना अश्व आदि को छोडकर खण्डी गौ आदि मे ही गोत्व प्रत्यय क्यो होता है? इसका उत्तर है कि विजातीय से व्यावृत्ति ही उसका कारण है। वह विजातीय व्यावृत्ति जहाँ है, वही उस प्रत्यय को उत्पन्न करती है, अन्यत्र नहीं।

शङ्का—जब बाह्य अर्थ उसका विषय नही है तो उस प्रत्यय से खण्डी गौ मे प्रवृत्ति कैसे होती है?

समाधान—दृश्य और विकल्प्य मे एकत्व का अध्यवसाय करने से। दर्शन (निर्विकल्पक प्रत्यक्ष) के पश्चात् उत्पन्न होने वाले सविकल्पक का दर्शन के साथ भेद ग्रहण न करने का नाम एकत्वाध्यवसाय है। अत. भेद का ग्रहण न होने से विकल्प के व्यापार को धता बताकर 'मैंने इसे ग्रहण किया' इस अध्यवसाय से प्रवृत्ति होती है और परम्परा से वस्तु से प्रतिबद्ध होने के कारण वस्तु की प्राप्ति होती है। उसी से सच्चे और मिथ्या का विवेक भी होता है, क्योंकि जो विकल्प वस्तु से सम्बन्ध रखने वाले दर्शन के पश्चात् होता है, वह सच्चा है और जो ऐसा नहीं है, वह मिथ्या है।

जैन :

[2]अनुवृत्त प्रत्यय का कारण नित्य, निरंश, एकरूप सामान्य नहीं है, यह ठीक है, किन्तु सदृश परिणाम रूप सामान्य उसका कारण है और प्रत्यक्षादि प्रमाणो से उसका स्वरूप सिद्ध है, क्योकि समान धर्म योगित्व रूप सदृश परिणाम पदार्थों मे प्रत्यक्ष से प्रतीत होता है और सबसे विलक्षण स्वलक्षण की प्रतीति

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २८३।
२ न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २८९।

स्वप्न में भी नहीं होती। सर्वत्र अर्थ की व्यवस्था प्रत्यय के द्वारा ही होती है और विलक्षण काली-पीली आदि गायों में भी 'गौ गौ' इस प्रकार का अनुगत प्रत्यय पाया जाता है। अत अनुगत प्रतिभास के होने से 'वस्तु भी अनुगत धर्म से युक्त है' ऐसा मानना चाहिये। यदि इसका विषय व्यावृत्ति होता तो 'गौ गौ' इस प्रकार विधि की प्रधानता से प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये थी। जिस प्रकार विजातीय से व्यावृत्ति वस्तु का स्वरूप है, उसी प्रकार सजातीय से व्यावृत्ति भी वस्तु का स्वरूप है। अतः दर्शन के पश्चात् होने वाले विकल्प में यदि विजातीय व्यावृत्ति रूप आकार का उल्लेख होता है तो सजातीय व्यावृत्ति रूप आकार का भी उल्लेख होना चाहिये। क्योंकि सजातीय व्यावृत्ति और विजातीय व्यावृत्ति में तथा स्वलक्षण में कोई भेद नहीं है।

तथा, [1]बौद्ध असमानाकार व्यावृत्ति के द्वारा समानाकार रूप सजातीयता की कल्पना करते हैं तो जो स्वयं असमानाकार है उसमे समानता की कल्पना करते हैं या जो स्वय समानाकार है उसमें समानता की कल्पना करते हैं ? जो स्वयं असमानाकार है उसमे अन्य से व्यावृत्ति होने पर भी समानाकारता कैसे मानी जा सकती है ? अन्यथा भैंस वगैरह से व्यावृत्त होने से गौ और अश्व मे भी समानाकारता का प्रसङ्ग आता है। तथा जैसे मूर्त घट से ज्ञान व्यावृत्त (भिन्न) है वैसे ही पट भी व्यावृत्त है। अत. ज्ञान और पट मे मूर्तिकपना समानधर्म हो जायेगा तथा अन्योन्याश्रय दोष भी आता है। अर्थात् अन्य से व्यावृत्ति होने पर समानाकारता होती है और समानाकारता के होने पर अन्य से व्यावृत्ति होती है। और जो स्वयं समानाकार है उसमे अन्य से व्यावृत्ति के द्वारा समानाकार की कल्पना करना व्यर्थ है।

[2]शायद कहा जाये कि अनुवृत्त प्रतीति निर्हेतुक है, अत. उसके कारण की चिन्ता करना निष्फल है, किन्तु ऐसा भी कहना उचित नहीं है, क्योंकि यदि अनुवृत्त प्रतीति निर्हेतुक होती तो उसमे देश आदि का नियम नहीं हो सकता था। यदि वह वासना हेतुक होती तो अर्थ की अपेक्षा नहीं होनी चाहिये थी, क्योंकि जिसका कारण अन्य होता है, वह उससे अन्य की अपेक्षा नहीं करता तथा अनुवृत्त प्रतीति के वासना हेतुक होने में कोई प्रमाण भी नहीं है। जिस

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २९०।

२. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २९१

प्रमाण के द्वारा वासना विकल्प की कारण प्रतीत होती है, वह प्रमाण भी विकल्प रूप होने से बाह्य अर्थ को विषय नहीं करता, अतः उससे यह जानना शक्य नहीं है कि यह विकल्प वासनाजन्य है। अत अन्य कारण न होने से अनुगत प्रत्यय का कारण सदृश परिणाम को ही मानना चाहिये।

बौद्ध—यदि अनुवृत्त प्रत्यय का कारण सदृश परिणाम है तो 'यह सदृश है' ऐसा प्रत्यय होना चाहिये, 'यह वही गौ है' ऐसा प्रत्यय नहीं होना चाहिये।

जैन—'यह वही गौ है' यह प्रत्यय किसको होता है? सफेद गाय को देखने के बाद चितकबरी गाय को देखने पर 'यह वही गौ है' ऐसा प्रत्यय नहीं होता, क्योकि सम्यग्ज्ञान वाले को चितकबरी गाय मे सफेद गाय की प्रतीति नहीं होती। किन्तु 'गौ गौ' ऐसा प्रत्यय होता है, क्योकि सफेद गाय और चितकबरी गाय मे पाये जाने वाले सदृश परिणाम मे 'गौ' शब्द का संकेत किया गया है। सब समान धर्मों मे सदृश शब्द का संकेत किया जाता है और उसकी प्रधानता से 'यह सदृश है' ऐसा प्रत्यय होता है और उसमे विशेषता होने पर गौ, अश्व आदि विशेष शब्दों का संकेत किया जाता है और उसकी प्रधानता से गौ, अश्व आदि प्रत्यय होते हैं। यदि ऐसा नहीं है तो सामान्यो मे 'सामान्य सामान्य' प्रत्यय और छह पदार्थों मे 'पदार्थ पदार्थ' यह प्रत्यय कैसे हो सकता है? सामान्यों मे अनुगत स्वभाव रूप और छह पदार्थों मे अत्यन्त भिन्न लक्षण रूप सदृश परिणाम को छोड़कर कोई अन्य निमित्त उक्त प्रत्ययो का नहीं पाया जाता। अत नैयायिक वैशेषिकों के द्वारा कल्पित सामान्य पदार्थ भी नहीं बनता और न विशेष नामक पदार्थ ही बनता है, क्योकि न तो उसका कोई निर्दोष लक्षण ही है और न उसका ग्राहक कोई प्रमाण ही है।

५. विशेष-पदार्थ :

वैशेषिक :

[1]विशेष नामक पदार्थ का लक्षण इस प्रकार कहा है—

'नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषा.।'[2]

समान जाति, समान गुण और समान क्रिया के आधारभूत नित्य द्रव्यों मे अत्यन्त व्यावृत्त बुद्धि मे कारणभूत विशेषो को छोड़कर अत्यन्त व्यावृत्त बुद्धि का

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २९२ २. प्रशस्तपादभाष्य, पृष्ठ २८४

अन्य कोई कारण नहीं हो सकता। वे विशेष नित्य द्रव्य परमाणु आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन में ही रहते हैं। तथा वे अन्त्य हैं, क्योंकि जगत् के विनाश और आरम्भ के कोटिभूत होने से परमाणु तथा संसार के अन्त रूप होने से मुक्तात्मा और मुक्त जीवों के मन 'अन्त' कहे जाते हैं। उनमे रहने से विशेषों को अन्त्य कहा है। ये सभी परमाणु आदि नित्य द्रव्यों में रहते हैं। इसलिये इन्हें नित्य द्रव्य वृत्ति और अन्त्य कहा है। वे परस्पर में अत्यन्त व्यावृत्त बुद्धि में कारण होने से अपने आश्रय को दूसरो से भिन्न करते हैं, इसलिये उन्हें विशेष कहा जाता है। वे विशेष अनन्त हैं और अपने आश्रय नित्य द्रव्य की तरह ही नित्य हैं, योगिजन उनका प्रत्यक्ष करते हैं। हम लोग उन्हे अनुमान से जानते हैं। वह अनुमान इस प्रकार है—समान जाति, समान गुण और समान क्रिया के आधारभूत परमाणुओं मे कोई भेदक धर्म रहता है, क्योंकि उनमे व्यावृत्त प्रत्यय होता है, जैसे मोतियो के ढेर मे पड़े हुये चिह्नित मुक्ताफलो में अन्य मोतियो से भेद कराने वाला चिह्न पाया जाता है। इस अनुमान का हेतु असिद्ध नहीं है, क्योंकि परमाणुओं मे भेदक प्रत्यय होता है और उनमे सत्ता का सम्बन्ध पाया जाता है, जैसे बेर और आँवला। अत ग्राहक प्रमाण का अभाव होने से विशेषों का अभाव सिद्ध नहीं होता। उनके ग्राहक प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण हैं।

जैन .

ऊपर विशेषो का जो लक्षण कहा है, वह समीचीन नहीं है। उसके सम्बन्ध मे प्रश्न यह है कि विशेषो के आधारभूत द्रव्य सर्वथा नित्य हैं या कथञ्चित् नित्य हैं। प्रथम पक्ष में लक्षण असम्भव दोष से दूषित है, क्योंकि कोई भी द्रव्य सर्वथा नित्य नहीं है, द्रव्य की परीक्षा करते हुये उसका निराकरण किया जा चुका है। इसी तरह विशेषो का अन्त्य होना भी असम्भव है। सत् जगत् का महाप्रलय रूप सर्वथा विनाश और सर्वथा असत् जगत् की पुनः उत्पत्ति किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होती, जिससे परमाणुओं को जगत् के विनाश और आरम्भ का कोटिभूत होने के कारण 'अन्त' माना जाये और उनमें रहने के कारण विशेषो को अन्त्य कहा जाये।

यदि विशेषो के आधारभूत द्रव्य कथञ्चित् नित्य हैं तो लक्षण मे अति-व्याप्ति नाम का दोष आता है, क्योंकि समान जाति आदि के आधारभूत मोतिओ वगैरह में अत्यन्त भेदक बुद्धि के कारणभूत जो चिह्न पाये जाते हैं, उनमें भी विशेषों का उक्त लक्षण चला जाता है। अथवा द्रव्य सर्वथा नित्य

रहे, किन्तु जो उनमे रहते हैं, वे कभी भी नित्य द्रव्य को नहीं छोड़ते। यदि उनको विशेष माना जाता है तो आत्मत्व आदि सामान्य से व्यभिचार आता है। आत्मत्व आदि भी नित्य द्रव्यो मे ही रहते हैं, किन्तु उन्हें विशेष नाम से नहीं कहा जाता।

वैशेषिक—जो सम्पूर्ण नित्य द्रव्यो मे ही पाये जाते हैं, उन्हें ही विशेष संज्ञा दी गई है। आत्मत्व आदि तो नियत द्रव्य में ही रहते हैं, अत. उनमे व्यभिचार नहीं आता।

जैन—तब तो निरतिशय परिमाण से व्यभिचार आता है। निरतिशय परिणाम नित्य द्रव्यो में ही रहता है तथा विशेषण रूप होने से अपने आश्रय को दूसरों से पृथक् भी करता है, किन्तु उसे विशेष नहीं कहा जाता।

पदार्थ स्वभाव से ही परस्पर में भेदबुद्धि के जनक होते हैं, अत विशेषों की कोई आवश्यकता नहीं है। तथा विशेष स्वभाव से ही भिन्न नित्य द्रव्यों का भेदक है या स्वभाव से अभिन्न नित्य द्रव्यो का? दूसरे पक्ष मे तो जो स्वभाव से ही अभिन्न हैं विशेष कैसे उनका भेदक हो सकता है? प्रथम पक्ष मे विशेषो की कोई आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि जो स्वभाव से ही भिन्न हैं, उनमे भेदबुद्धि कराने वाले विशेष नहीं रहते, जैसे विशेष नामक पदार्थ स्वभाव से ही भिन्न होते हैं, अत' उनमे अन्य विशेष नहीं माने गये हैं। जो स्वभाव से ही भिन्न हैं, उनमे भी यदि विशेषों को माना जायेगा तो स्वभाव से ही भिन्न विशेषो मे भी अन्य विशेष मानने होंगे और ऐसा होने पर अनवस्था दोष आता है।

तथा आपने कहा है कि विशेष नामक पदार्थ योगि-प्रत्यक्ष से जाने जाते हैं। यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि परमाणु वगैरह का स्वरूप स्वभाव से ही परस्पर मे असंकीर्ण है या संकीर्ण? प्रथम पक्ष मे उससे विशेष की सिद्धि कैसे हो सकती है? क्योंकि परस्पर में असकीर्ण परमाणु वगैरह के स्वरूप से ही योगियो को उनमें वैलक्षण्य की प्रतीति होती है। दूसरे पक्ष मे तो योगि-प्रत्यक्ष की भ्रान्तता का प्रसङ्ग आता है, क्योंकि स्वभाव से परस्पर मे अभिन्न स्वरूप वाले परमाणु वगैरह को वह भिन्न रूप से देखता है।

उक्त अनुमान से भी यदि आप परमाणुओ मे भेदक धर्म का अस्तित्व सिद्ध करते हैं तो हमे कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु यदि विशेषों का अस्तित्व सिद्ध करते हैं तो उक्त दोषो का अनुषङ्ग आता है। अत वैशेषिकों के द्वारा मान्य विशेष "नामक पदार्थ" भी सिद्ध नहीं होता। और न समवाय पदार्थ ही सिद्ध होता है।

६. समवाय-पदार्थ :

वैशेषिक :

[1]समवाय सम्बन्ध का लक्षण इस प्रकार है—

'अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानाम् इहेदम्प्रत्ययसम्बन्धः हेतुर्यः स समवायः ।'[2]

अयुतसिद्ध और आधार्य-आधारभूत पदार्थों में 'इह इदम्' 'इसमें यह है'—इस व्यवहार का कारण जो सम्बन्ध होता है, वह समवाय है।

ग्राम और उसके निकटवर्ती वृक्षों में भी 'इस ग्राम में ये वृक्ष हैं' ऐसा व्यवहार पाया जाता है। उससे दोष का निवारण करने के लिये लक्षण मे 'सम्बन्ध' पद दिया है। 'इस आकाश मे यह पक्षी है' इस व्यवहार से दोष का निवारण करने के लिये 'आधार्य-आधारभूत' पद दिया है। क्योंकि आकाश और पक्षी में आधार्याधार-भाव नहीं है। व्यापक होने से आकाश सर्वत्र पाया जाता है, अतः जैसे वह पक्षी के नीचे है, वैसे ही पक्षी के ऊपर भी है। 'इस बर्तन में दही है' इससे दोष का निवारण करने के लिये समवाय के लक्षण मे 'अयुतसिद्ध' पद दिया है। दही और बर्तन अयुतसिद्ध नहीं हैं, दोनों जुदे-जुदे हैं। जो भिन्न-भिन्न आश्रय मे रहते हैं, उन्हे युतसिद्ध कहते हैं, जैसे दही और बर्तन। अतः समवाय का उक्त लक्षण निर्दोष है।

तन्तु-पट वगैरह संयुक्त नहीं हैं, क्योंकि वे नियम से अयुतसिद्ध आधार्य-आधारभूत होते हैं। जो संयुक्त होते हैं, वे अयुतसिद्ध और आधार्य आधारभूत नहीं होते, जैसे कुण्ड और दही। तथा तन्तु-पट वगैरह में संयोग सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि नियम से उनमे अयुतसिद्ध सम्बन्ध पाया जाता है।

समवाय के सद्भाव में प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, क्योंकि प्रत्यक्ष से पट तन्तु सम्बद्ध ही प्रतिभासित होता है और रूपादि पटादि से सम्बद्ध ही प्रतिभासित होते हैं। अनुमान से भी समवाय की प्रतीति होती है। तथाहि—'इन तन्तुओं में पट है' इत्यादि प्रत्यय सम्बन्ध का कार्य है, अबाध्यमान 'इह' प्रत्यय होने से, जैसे 'इस कुण्ड में दही' यह प्रत्यय सम्बन्ध का कार्य है। 'इन तन्तुओं में पट है' यह प्रत्यय निर्हेतुक नहीं है, क्योंकि जो निर्हेतुक होता है, वह स्थायी होता है,

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २९४ आदि।

२. प्रशस्तपाद भाष्य, पृष्ठ २८९।

किन्तु यह प्रत्यय स्थायी नहीं है। न यह प्रत्यय तन्तु हेतुक या पट हेतुक है, यदि वैसा होता तो तन्तु या पट ऐसा प्रत्यय होना चाहिये था। इस प्रत्यय का हेतु तादात्म्य भी नहीं है। तादात्म्य एकत्व को कहते हैं और जहाँ एकत्व है वहाँ सम्बन्ध का कोई प्रश्न ही नहीं है, सम्बन्ध तो दो में होता है। उक्त प्रत्यय संयोग हेतुक भी नहीं है। युतसिद्ध पदार्थों में ही संयोग सम्बन्ध पाया जाता है। अतः उक्त प्रत्यय समवाय हेतुक ही है। तथा वह समवाय संयोग की तरह अनेक नहीं है, किन्तु सत्ता की तरह एक ही है।

जैन :

[1]वैशेषिक द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष—इन पाँच पदार्थों को समवायी मानता है और जब उनका ही निराकरण कर दिया गया तो समवाय नाम का पदार्थ कैसे सिद्ध हो सकता है? वैशेषिकशास्त्र में कहा है—पृथक् आश्रय में न रहने को अयुतसिद्धि कहते हैं। यह अयुतसिद्धि तन्तु-पट मे नहीं है, क्योंकि तन्तु अपने अवयवो मे रहते हैं और पट तन्तुओ मे रहता है। अत दोनो का आश्रय भिन्न है। इसी तरह गुण, कर्म और सामान्य भी पृथक् आश्रय मे रहते हैं।

वैशेषिक—जैसे कुण्ड और दही—ये दोनो दो भिन्न आधार हैं और उनमे रहने वाले दधि-अवयव और कुण्ड-अवयव ये दो आश्रयी हैं। इस तरह तन्तु और पट में नहीं हैं। तन्तु ही अपने अवयवो की अपेक्षा से आश्रयी है और पट की अपेक्षा से आश्रय है, अत युतसिद्धि का लक्षण उनमे नहीं पाया जाता, अतः तन्तु-पट अयुतसिद्ध हैं।

जैन—तब तो दिशा, काल, आकाश और आत्मा में भी युतसिद्धि के अभाव का प्रश्न आता है, क्योंकि इन सबका आश्रय पृथक-पृथक् नहीं है। आपने कहा है कि प्रत्यक्ष से ही समवाय की प्रतीति होती है, किन्तु ऐसा कहना भी श्रद्धा-मात्र है। जब किसी वस्तु का असाधारण स्वरूप स्थिर होता है तो उसकी प्रत्यक्ष से सिद्धि होती है, किन्तु समवाय का तो असाधारण स्वरूप ही सिद्ध नहीं है। उसका असाधारण स्वरूप अयुतसिद्ध सम्बन्ध है या सम्बन्ध मात्र? अयुतसिद्ध सम्बन्ध तो उक्त प्रकार से सिद्ध नहीं होता और सम्बन्ध मात्र तो संयोग आदि सम्बन्ध मे भी पाया जाता है, अत वह भी समवाय का असाधारण

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २९७।

स्वरूप नहीं हो सकता। [1]शायद कहा जाये कि 'इसमें यह है' इस प्रत्यय में समवाय का प्रतिभास होता है, किन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इससे तो आधाराधेयभाव सम्बन्ध की ही प्रतीति होती है।

वैशेषिक—कुण्ड और बेर वगैरह में संयोग सम्बन्ध पूर्वक ही आधाराधेयभाव रूप सम्बन्ध पाया जाता है, अत अवयव-अवयवी वगैरह मे भी वह सम्बन्धान्तरपूर्वक ही सिद्ध होता है और वह सम्बन्धान्तर समवाय ही हो सकता है। इससे समवाय की सिद्धि होती है।

जैन—इस तरह तो अनवस्था हो जायेगी, क्योंकि दही और कुण्ड वगैरह का सम्बन्ध सम्बन्धान्तर से होने के कारण सम्बन्धान्तर की परतन्त्रता देखी जाती है। उसी प्रकार अवयव-अवयवी आदि का सम्बन्ध भी सम्बन्धान्तर से होने के कारण यहाँ भी सम्बन्धान्तर की परतन्त्रता का प्रसङ्ग आता है। यदि कहोगे कि समवाय बुद्धि के द्वारा समवाय की प्रतीति होती है तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'ये तन्तु हैं' 'यह पट है' और 'यह समवाय है' इस तरह तीनो की अलग-अलग प्रतीति स्वप्न में भी किसी को नहीं होती, अत प्रत्यक्ष से समवाय की प्रतीति नहीं होती है।

और अनुमान से भी नहीं होती, क्योंकि समवाय का साधक कोई निर्दोष अनुमान नहीं है। आपने जो अनुमान कहा है वह तो अनेक दोषो से दूषित है। पहला दोष तो यह है कि उसका हेतु आश्रयासिद्ध है, क्योंकि 'इन तन्तुओं मे पट' इत्यादि पक्ष ही असिद्ध है। 'पट मे तन्तु हैं' ऐसी ही सबको प्रतीति होती है, 'तन्तु में पट हैं' ऐसी प्रतीति किसी को नहीं होती। तथा स्वरूपासिद्ध भी है, क्योंकि तन्तु-पट के ज्ञान में 'इस' प्रत्यय का अनुभव नहीं होता, 'यह पट है' इत्यादि रूप से उसका अनुभव होता है। अनैकान्तिक भी है 'इस प्रागभाव में अनादिपना है, इस प्रध्वंसाभाव में प्रध्वंसाभाव का अभाव है' ये प्रत्यय सम्बन्धान्तरपूर्वक नहीं हैं।

और आपने जो समवाय सम्बन्ध को एक कहा है, वह भी ठीक नहीं है। उसका एक होना अनुमान से बाधित है। तथाहि—समवाय अनेक हैं, क्योंकि वह भिन्न देशवर्ती, भिन्न कालवर्ती और भिन्न आकार वाले पदार्थों में सम्बन्ध बुद्धि कराने में हेतु है। जो ऐसा होता है, वह एक नहीं होता, जैसे संयोग। समवाय चूंकि ऐसा ही है, इसलिये वह अनेक है। तथा समवाय अनेक हैं,

१, न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ ३००।

क्योंकि वह अयुतसिद्ध अवयव-अवयवी के आश्रित है, जैसे सख्या। इस अनुमान से भी समवाय अनेक सिद्ध होता है। यह अनुमान असिद्ध नहीं है, क्योंकि प्रशस्तपाद भाष्य में समवाय को आश्रित कहा है। अत समवाय परमार्थ से आश्रित है, सम्बन्ध होने से सयोग की तरह।

तथा आपका यह कहना भी ठीक नहीं है कि समवाय चूंकि स्वत सम्बन्ध रूप है, अत वह अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं करता, क्योंकि सयोग स्वतः सम्बन्ध रूप है। फिर भी वह समवाय सम्बन्ध से द्रव्य मे रहता है, ऐसा नैयायिक ने माना है। अतः विचार करने पर सम्बन्धियो से सर्वथा भिन्न सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता।

१६. [1]सम्बन्ध-विचार

बौद्ध :

यदि सम्बन्ध सिद्ध हो जाये तो यह विचार करना उचित है कि वह सम्बन्धियो से भिन्न है अथवा अभिन्न है। किन्तु वह सिद्ध नहीं होता, क्योंकि उसका कोई स्वरूप ही नहीं बनता। उसका खुलासा इस प्रकार है—पदार्थों के सम्बन्ध का स्वरूप या लक्षण क्या है? परतन्त्रता उसका लक्षण है या वह रूपसश्लेष स्वभाव है, अथवा परापेक्षा रूप है? प्रथम पक्ष मे वह सम्बन्ध निष्पन्न सम्बन्धियो मे होता है या अनिष्पपन्न सम्बन्धियो मे? जो सम्बन्धी अभी निष्पन्न ही नहीं हुवे उनका तो स्वरूप ही अभी असत् है, अत. उनमें गधे के सींग और बांझ के पुत्र की तरह सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। तथा जो सम्बन्धी निष्पन्न हो चुके हैं उनमे परतत्रता का अभाव होने से सह्य पर्वत और विन्ध्य पर्वत की तरह सम्बन्ध नहीं हो सकता। कहा भी है—

पारतन्त्र्यं हि सम्बन्ध. सिद्धे का परतन्त्रता।
तस्मात् सर्वस्य भावस्य सम्बन्धो नास्ति तत्त्वतः॥[2]

परतन्त्रता ही सम्बन्ध का स्वरूप है। जो वस्तु सिद्ध है उसमे क्या परतन्त्रता? अत वास्तव मे सभी पदार्थों मे कोई सम्बन्ध नहीं है।

रूपसंश्लेष भी सम्बन्ध का स्वरूप नहीं बनता। सम्बन्धी दो होते हैं, अत उनमे संश्लेष के होने मे विरोध है। यदि दोनों सम्बन्धी एक हैं तो उनमे

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ ३०५।
२ सम्बन्धपरीक्षा, कारिका १।

स्वयं सम्बन्ध का अभाव है, क्योंकि सम्बन्ध दो में रहता है, अतः सम्बन्धियों के अभाव में सम्बन्ध कैसे हो सकता है।

तथा सम्बन्धियों में सर्वात्मना रूप संश्लेष होता है अथवा एकदेश से? सर्वात्मना संश्लेष होने पर पिण्ड अणुमात्र हो जायेगा। एकदेश से संश्लेष मानने पर एक अणु के छह अंश होने की आपत्ति आती है। तथा सम्बन्धियों के वे एकदेश उनसे भिन्न हैं या अभिन्न? यदि अभिन्न हैं तो देशों का अभाव होने से सम्बन्धियों का संश्लेष एकदेश से कैसे हो सकता है? यदि देश सम्बन्धियों से भिन्न हैं तो उनके साथ भी अणुओं का सर्वात्मना अथवा एकदेश से सम्बन्ध मानने पर वही प्रश्न पैदा होता है और अनवस्था दोष भी आता है। कहा भी है—

> '[1]रूपश्लेषो हि सम्बन्ध' द्वित्वे स च कथं भवेत्।
> तस्मात् प्रकृतिभिन्नानां सम्बन्धो नास्ति तत्त्वत' ॥[2]

अर्थात् रूपश्लेष को सम्बन्ध कहते हैं। वह सम्बन्ध दो मे कैसे हो सकता है। अत जो स्वभाव से ही भिन्न हैं, उनमे वास्तव में सम्बन्ध नहीं है।

यदि सम्बन्ध परापेक्षा रूप है तो रहे, किन्तु पदार्थ स्वयं सत् होते हुये पर की अपेक्षा करता है अथवा स्वयं असत् होते हुये पर की अपेक्षा करता है? जो स्वय असत् है वह तो पर की अपेक्षा नहीं कर सकता। जो सत् है वह सब ओर से निःकांक्ष है, उसे किसी प्रकार की चाह ही नहीं है। यदि हो तो वह सत् नहीं हो सकता। कहा भी है—

> परापेक्षा हि सम्बन्धः सोऽसन् कथमपेक्षते।
> संश्च सर्वनिराशंसो भाव कथमपेक्षते ॥[3]

पर की अपेक्षा का नाम सम्बन्ध है। जो असत् है वह पर की अपेक्षा कैसे कर सकता है? और जो सत् है वह सब ओर से निरपेक्ष होने से पर की अपेक्षा कैसे कर सकता है?

तथा सम्बन्ध सम्बन्धियों से भिन्न है या अभिन्न? यदि अभिन्न है तो या तो सम्बन्धी ही रहेंगे या सम्बन्ध ही रहेगा। यदि भिन्न है तो अकेले सम्बन्धी परस्पर मे कैसे सम्बद्ध हो सकेंगे? सम्बन्ध तो उनसे भिन्न है। तथा ऐसी स्थिति मे उस एक सम्बन्ध के साथ उन दोनो सम्बन्धियों का क्या सम्बन्ध

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ ३०६।

२. सम्बन्धपरीक्षा, कारिका २।

३. सम्बन्धपरीक्षा, कारिका ३।

है? यदि उसके साथ उन दोनों सम्बन्धियों का अन्य सम्बन्ध मानते हैं तो अनवस्था दोष आता है, क्योंकि उस दूसरे सम्बन्ध के लिये अन्य सम्बन्ध मानना पड़ेगा। अत सम्बन्ध बुद्धि वास्तविक नहीं है, क्योंकि सम्बन्धियों से भिन्न कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि है तो 'दो सम्बन्धी और एक सम्बन्ध' इस प्रकार सब पदार्थ परस्पर में अमिश्रित होकर परमार्थ से अपने-अपने स्वरूप में स्थित हैं। कल्पनावश वे मिश्रित प्रतीत होते हैं।

जैन :

बौद्धों का उक्त कथन ठीक नही है। पदार्थों में एकत्व परिणति रूप पारतन्त्र्य प्रत्यक्षादि प्रमाणो से सिद्ध है, उसका निह्नव कर सकना शक्य नहीं है। जो प्रत्यक्षादि प्रमाणो से सिद्ध है, उसका निह्नव नहीं हो सकता है, जैसे घट-पट का। बाह्य और आन्तरिक पदार्थों मे एकत्व परिणति रूप पारतन्त्र्य प्रमाणसिद्ध है, अत उसका निह्नव नहीं किया जा सकता। [1]जैन लोग पदार्थों मे द्रव्यकृत, क्षेत्रकृत, कालकृत और भावकृत प्रत्यासत्ति को सम्बन्ध कहते हैं, उसी का नाम पारतन्त्र्य है और वह प्रत्यासत्ति (नैकट्य) एकत्व परिणति रूप है। प्रत्यक्षादि प्रमाण मे बच्चो तक को उसका प्रतिभास होता है। बाहर मे एक अवयवी द्रव्य मे रहने वाले रूपादि का तथा अन्तरग मे एक आत्मद्रव्य मे रहने वाले ज्ञान सुखादि का प्रत्यक्ष से ही ज्ञान होता है और अवयवी द्रव्य तथा आत्मद्रव्य की सिद्धि पहले कर आये हैं।

तथा एक क्षेत्र मे रहने वाले दूध-पानी का परस्पर मे मिले-जुले रूप मे एकत्व परिणति रूप क्षेत्रकृत प्रत्यासत्ति रूप सम्बन्ध प्रत्यक्ष से ही प्रतीत होता है। कालकृत प्रत्यासत्ति रूप सम्बन्ध आम के रस वगैरह मे प्रत्यक्ष से प्रतीत होता है। भावकृत प्रत्यासत्ति रूप सम्बन्ध संयोगी द्रव्य-पर्याय वगैरह मे प्रतीत होता है। ये प्रत्यासत्तियाँ एक-एक की प्रधानता से बतलाई हैं, किन्तु जहाँ इनमे से एक प्रत्यासत्ति होती है, वहाँ अन्य प्रत्यासत्तियाँ भी होती हैं।

तथा हम कथञ्चित् निष्पन्न सम्बन्धियो मे पारतन्त्र्य रूप सम्बन्ध मानते हैं। वस्तु द्रव्य-पर्यायात्मक है, अत द्रव्य रूप से निष्पन्न वस्तु अनिष्पन्न पर्याय रूप से परिणमन करती है। पट तन्तुद्रव्य रूप से निष्पन्न है, क्योंकि पट की उत्पत्ति से पहले भी तन्तुद्रव्य रहता है और स्वरूप से अनिष्पन्न है। तन्तुद्रव्य भी स्वरूप से निष्पन्न है और पट रूप से अनिष्पन्न है। इस प्रकार सभी वस्तुएँ

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ २०७

कथञ्चित् विभक्त और कथञ्चित् अविभक्त होते हुवे पारतन्त्र्य रूप सम्बन्ध से युक्त होती हैं।

और जो बौद्धों ने 'रूपश्लेषो हि सम्बन्धः.....' आदि कहा है, वह भी एकान्तवादियों के लिये ही दूषण है, स्याद्वादियों के लिये नहीं। क्योंकि हम सम्बन्धियों में कथञ्चित् एकत्वापत्ति रूप सम्बन्ध मानते हैं। सम्बन्धियों का पृथक् पृथक् न किया जा सकना ही रूपश्लेष है और उनकी असाधारणरूपता अश्लेष है, अतः सम्बन्धियों के द्वित्व के साथ उनका कोई विरोध नहीं है।

[1]तथा हम सम्बन्धियो का रूपश्लेष रूप सम्बन्ध न सर्वात्मना मानते हैं और न एकदेश से मानते हैं, किन्तु एक तीसरे ही प्रकार से मानते हैं। जिनके मत में विभिन्न सम्बन्धी अपने पूर्व स्वरूप को त्यागे बिना और नये स्वरूप को स्वीकार किये बिना परस्पर मे सम्बद्ध होते हैं, उन्हीं के मत मे पहले कहा गया दोष आता है। हमारे मत में तो पृथक् रूपता को त्याग कर संश्लिष्ट रूप से एकमेव रूप परिणति को सत्तु-जल वगैरह का सम्बन्ध माना है, उसमें उक्त दोष नहीं आते। इस प्रकार का सम्बन्ध नहीं मानने पर चित्रज्ञान नहीं बन सकता। चित्रज्ञान का नीलादि अनेक आकारों के साथ उक्त प्रकार की एकत्व परिणति को छोडकर अन्य सम्बन्ध सम्भव नहीं है। यदि उसका उन आकारों के साथ सर्वात्मना या एकदेश से सम्बन्ध माना जायेगा तो उक्त सब दोषो का प्रसग आता है। उक्त प्रकार का सम्बन्ध कहीं तो पदार्थों के सब प्रदेशों के परस्पर अनुप्रवेश को लिये हुये होता है, जैसे जल और सत्तु का और कहीं एकदेश से सश्लेष होने मात्र से होता है, जैसे अगुली वगैरह का। हम तो प्रत्येक वस्तु को सांश मानते हैं, अतः हमारे लिये सांशता का प्रसग कोई दोष नहीं है, किन्तु सांश मानने से अनवस्था दोष नहीं आता, क्योंकि वस्तु से उसके प्रदेश अत्यन्त भिन्न नहीं हैं। भिन्न मानने पर ही अनवस्था दोष आता है। अनेकान्तात्मक वस्तु अत्यन्त भेद और अत्यन्त अभेद रूप न होकर चित्रज्ञान की तरह जात्यन्तर ही होती है।

परमाणुओं की सांशता का प्रसंग जो दिया गया है, उसमें अंश शब्द का अर्थ स्वभाव है या अवयव? यदि स्वभाव है तो कोई दोष नहीं है, क्योंकि हम परमाणुओं में स्वभाव-भेद मानते हैं। यदि उनमें स्वभाव भेद न होता तो विभिन्न दिशाओं में स्थित परमाणुओं के साथ उनका सम्बन्ध नहीं हो सकता था। हाँ, अवयव अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि अणु अभेद्य होते हैं, अतः उनके अवयव सम्भव नहीं हैं।

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ ३०८

बौद्ध—यदि परमाणुओं में स्वभाव-भेद सम्भव है तो वे अविभागी कैसे हो सकते हैं ?

जैन—अविभागी का मतलब है कि उन परमाणुओ का भेदन नहीं किया जा सकता। अविभागी का मतलब निस्स्वभावता नहीं है।

परापेक्षा रूप सम्बन्ध हम मानते ही नहीं हैं, अत उसकी चर्चा ही बेकार है।

बौद्ध—पदार्थों का सम्बन्ध मिथ्या है, क्योंकि वह परापेक्ष है।

जैन—पदार्थों का सम्बन्ध क्या आत्मलाभ मे पर की अपेक्षा करता है या सम्बन्ध व्यवहार में ? आत्मलाभ मे तो पर की अपेक्षा वह करता नहीं है, क्योंकि एकत्व परिणति रूप सम्बन्ध अपने कारणो से ही उत्पन्न होता है। हाँ, सम्बन्ध व्यवहार में परापेक्ष होने से वह मिथ्या नहीं हो सकता। जो परापेक्ष व्यवहार होता है, वह मिथ्या होता है, ऐसी कोई व्याप्ति नहीं है। यदि ऐसा माना जायेगा तो बुद्ध के ज्ञान मे साधारण जन की अपेक्षा से स्पष्टतर आदि का व्यवहार किया जाता है, अत उसके मिथ्या होने का प्रसग आयेगा।

अत अवयव-अवयवी वगैरह में कथञ्चित् एकत्व परिणति रूप सम्बन्ध ही सिद्ध होता है। इसलिये वैशेषिक के द्वारा कल्पित समवाय-पदार्थ भी सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार वैशेषिक मत में कणाद के द्वारा प्रतिपादित छह पदार्थ सिद्ध नहीं होते।

१७. सांख्याभिमत तत्त्व-विचार

सांख्य :

सांख्य[1] तरग रहित समुद्र के तुल्य प्रधान को जगत् के प्रपञ्च की रचना मे कारण मानते हैं। वह प्रधान सक्षेप मे तीन प्रकार का है—

> शक्ति करणं कार्यम् इति त्रेधा जगत् स्थितम्।
> कार्यं भूतानि करण खानि शक्तिः गुणत्रयम्॥

शक्ति, करण और कार्य के भेद से जगत् तीन रूप है। कार्य के दस भेद हैं—पाँच तन्मात्रा (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द) तथा पाँच महाभूत (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश)। करण के तेरह भेद हैं—पाँच

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ ३५०

ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, एक अन्तःकरण, एक बुद्धि और एक अहङ्कार। शक्ति प्रकृति है, वही जगत् का मूल उपादान कारण है। उसका सद्भाव पाँच हेतुओं से जाना जाता है। वे पाँच हेतु इस प्रकार हैं—

> भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च।
> कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूप्यस्य ॥[1]

जो एक कारण पूर्वक होता है, उसी मे परिमितपना पाया जाता है। जैसे एक मिट्टी रूप कारण से बनने वाले घट, सकोरा आदि में परिमितपना पाया जाता है। यह व्यक्त भी परिमित है—एक बुद्धि, एक अहङ्कार, पाँच तन्मात्राएँ, ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच महाभूत। अत इनका जो एक कारण है, वह प्रधान है, इसलिये प्रधान के अस्तित्व की सिद्धि होती है।

जो जिस जाति से समन्वित होता है, उसके कार्य और कारण तदात्मक ही होते हैं, जैसे घटादि विशेष मिट्टी रूप जाति से समन्वित होते हैं, अत उसके कारण और कार्य भी मिट्टी रूप ही होते हैं। यह महत् आदि व्यक्त प्रधान सत्व, रज और तमो जाति से समन्वित होता है। सत्व का कार्य प्रसन्नता, लघुता, हर्ष, प्रीति आदि है, रज का कार्य ताप, शोष, उद्वेग आदि है और तम का कार्य विषाद, दीनता, गौरव, आवरण आदि है। महत् आदि मे प्रसन्नता, सन्ताप, विषाद आदि कार्य पाया जाता है, अतः ये सब प्रधान से अन्वित हैं, यह सिद्ध होता है

जो जिस कार्य में प्रवृत्त होता है, वह उसमे समर्थ होता है। जैसे जुलाहा वस्त्र बुनने में प्रवृत्त होता है तो वह उसमे समर्थ होता है। प्रधान व्यक्त को करने में प्रवृत्त होता है, अतः उसमें ऐसी शक्ति है, जिससे वह व्यक्त को उत्पन्न करता है। वह शक्ति निराधार नहीं हो सकती। अतः प्रधान का अस्तित्व सिद्ध होता है।

तथा जैसे मिट्टी के पिण्ड के बिना घटादि कार्य नहीं होते, उसी तरह कारण के बिना महत् आदि कार्य नहीं हो सकते। अतः कार्य के देखने से कारण का अस्तित्व सिद्ध होता है।

महत् आदि प्रपञ्च को वैश्वरूप्य कहते हैं। वह प्रपञ्च प्रलयकाल मे किसी में लीन हो जाता है। पाँच महाभूत पाँच तन्मात्राओं में लीन हो जाते हैं, तन्मात्राएँ और इन्द्रियाँ अहङ्कार में लीन हो जाती हैं। अहङ्कार बुद्धि मे और

---

1. सांख्यकारिका, १५

बुद्धि प्रकृति में लीन हो जाती है। इस प्रकार प्रकृति नीचे लिखे क्रमानुसार सत्त्व की रचना मे प्रवृत्त होती है—

प्रकृतेर्महान् ततोऽहङ्कारः तस्माद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि॥[१]

प्रथम प्रकृति से महान् प्रकट होता है। वह महान् एक और व्यापक है, विषय के अध्यवसाय रूप है तथा सृष्टिकाल से लेकर प्रलयकाल तक स्थायी होता है। हम लोग उसे नहीं जान सकते। उस महान् से जो प्रत्येक प्राणी में विभिन्न बुद्धि रूप वृत्तियाँ प्रकट होती हैं, वे जानने योग्य होती हैं। उस बुद्धि से अहङ्कार प्रकट होता है। वह भी प्रत्येक प्राणी मे भिन्न-भिन्न होता है—'मैं स्थूल हूँ', 'सुरूप हूँ' आदि उसी अहङ्कार की तरगे हैं। वह अहङ्कार प्रथम वैकारिक और भूतादि के भेद से दो प्रकार का होता है। सत्त्व प्रधान वैकारिक अहङ्कार से प्रकाश रूप ग्यारह इन्द्रियाँ प्रकट होती हैं, पाँच बुद्धीन्द्रियाँ[२]—श्रोत्र, स्पर्शन, चक्षु, जिह्वा और घ्राण, पाँच कर्मेन्द्रियाँ—वाणी, हाथ, पैर, गुदा और मूत्रेन्द्रिय तथा एक मन। बुद्धि को अभिव्यक्त करने के लिये जो इन्द्रियाँ होती हैं, उन्हे बुद्धीन्द्रिय कहते हैं। और कर्म को अभिव्यक्त करने के लिये जो इन्द्रियाँ होती हैं, उन्हे कर्मेन्द्रिय कहते हैं। 'मैं गाँव को जाता हूँ वहाँ से सुवर्ण की प्राप्ति होगी या द्रव्य की प्राप्ति होगी' इस प्रकार की संकल्पवृत्ति को मन कहते हैं। भूतादि रूप अहङ्कार से पाँच तन्मात्राएँ और उन पाँच तन्मात्राओ से पाँच महाभूत प्रकट होते हैं।

इस प्रकार तत्त्वो की सृष्टि करने के पश्चात् जब प्रकृति भूत-सृष्टि मे प्रवृत्त होती है, तब सर्व प्रथम ब्रह्म का प्रादुर्भाव होता है। उसके महत् तत्त्व से सौ योजन परिमाण वाली बुद्धि निकलती है, बुद्धि से अहङ्कार उत्पन्न होता है तथा अहङ्कार से ग्यारह इन्द्रियाँ और पञ्च तन्मात्राएँ प्रकट होती हैं। पञ्च तन्मात्राओ से सूक्ष्म देह के आरम्भक पञ्च भूत प्रकट होते हैं। उसके बाद बहुत से भूतो से कलल आदि के क्रम के बिना ही झट से स्थूल देह उत्पन्न हो जाता है। इसी तरह मनु आदि के भी शरीर उत्पन्न होते हैं। अन्य प्राणियो के सूक्ष्मभूत से बने हुये शरीर सृष्टि से लेकर प्रलयकाल तक स्थायी होते हैं। मनुष्य आदि के शरीर माता-पिता के संयोग से बनते हैं। देव, नारकी और क्षुद्र जन्तुओ का शरीर औपपादक होता है।

१. सांख्यकारिका, २२
२. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ ३५२

यह महत् आदि प्रपञ्च प्रकृति में विद्यमान रहता है और किसी कारण से प्रकट हो जाता है। प्रकृति में इस प्रपञ्च की सत्ता पाँच कारणों से जानी जाती है। जो इस प्रकार हैं—

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाऽभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥[1]

यदि कारण में कार्य असत् होता तो आकाश कुसुम की तरह असत् होने से उसका करना शक्य नहीं होता। तथा यदि कारण में कार्य सर्वथा नहीं रहता तो नियत उपादान का ग्रहण करना अनावश्यक है। जैसे तन्तुओं से घट का असत्त्व है, वैसे ही यदि मिट्टी के पिण्ड मे भी घट का असत्त्व है तो घट के लिये मिट्टी के पिण्ड की तरह तन्तुओ का भी ग्रहण करना उचित होगा।

[2]तथा यदि कार्य असत् है तो सभी कारणो से सभी कार्यों की उत्पत्ति होनी चाहिये। और ऐसी स्थिति में मिट्टी के पिण्ड से भी पट की उत्पत्ति और तन्तुओ से घट की उत्पत्ति होनी चाहिये। तथा आकाश के फूल की तरह असत् कार्य को कर सकना शक्य नहीं है और कारण में उसको उत्पन्न करने की शक्ति ही नहीं है। तथा कारणपना कार्य की अपेक्षा करता है। जो आकाश के फूल की तरह असत् है, उसका कारण के साथ कोई सम्बन्ध नही है। अत कारण मे कार्य तादात्म्य से रहता है। फिर भी उन दोनो में लक्षण के भेद से भेद पाया जाता है। लक्षण इस प्रकार है—

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥[3]

व्यक्त ही कारणवाला है, क्योकि प्रधान से बुद्धि, बुद्धि से अहङ्कार, अहङ्कार से सोलह गण और पाँच तन्मात्राओ से पाँच महाभूत व्यक्त होते हैं। प्रधान कारणवाला नहीं है, क्योंकि उसका कोई कारण नहीं है। चैतन्य रूप पुरुष तो जड़ का कारण हो नहीं सकता, क्योंकि वह उससे अत्यन्त विलक्षण है। प्रधान जड़ की अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था है, उससे भी सूक्ष्म कोई अवस्था नहीं है। अतः प्रधान का कारण न जड है और न चेतन, अतः वह अहेतुक है। इसी से वह नित्य है और महद् आदि कारणवान् होने से अनित्य हैं।

---

१. सांख्यकारिका, ९।
२. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ ३५३।
३. सांख्यकारिका, १०।

तथा कारण से कार्य अल्प परिमाण वाला होना चाहिये। इसलिये कारण की अपेक्षा से महत् आदि अव्यापक हैं और प्रधान व्यापक है। हलन-चलन रूप क्रिया मूर्त्त महत् आदि से ही होती है, इसलिये वह सक्रिय है और उससे विपरीत होने के कारण प्रधान निष्क्रिय है, किन्तु परिणमन रूप क्रिया दोनो मे होती है। जैसे यदि ईश्वर अनेक हो तो परस्पर मे मतभेद होने से कचपच होने के कारण कार्य की निष्पत्ति नही हो सकती, वैसे ही प्रधानो के अनेक होने पर भी नही हो सकती। इसलिये प्रधान एक है और व्यक्त महत् आदि के भेद से अनेक है। जो जिससे उत्पन्न होता है, वह उसके आश्रित होता है, अत. व्यक्त आश्रित है, किन्तु किसी का कार्य न होने से अव्यक्त प्रधान आश्रित नहीं है। जो अपने सूक्ष्म कारण का बोध कराता है या लय हो जाता है, उसे लिंग कहते हैं। अतः व्यक्त लिंग रूप है। किन्तु अव्यक्त लिंग रूप नहीं है। व्यक्त सावयव है और अव्यक्त निरवयव है। कारणवान् तथा आश्रित होने से व्यक्त परतन्त्र है, अव्यक्त नहीं है। किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि दोनो मे अत्यन्त भेद ही है। लक्षण के अभेद से दोनो मे अभेद भी है। यथा—

त्रिगुणमविवेकि विषय. सामान्यमचेतन प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥[1]

सत्त्व, रज और तमोमय होने से दोनो मे ही त्रिगुणपना समान है। ये सत्त्व आदि गुण हैं और यह व्यक्त और अव्यक्त प्रधान है, ऐसा भेद करना शक्य न होने से अविवेकी हैं। तथा दोनो ही भोग्य स्वभाव होने से विषय हैं। जो भोग्य रूप से इन्द्रियो को बाँधता है, उसे विषय कहते हैं।[2]समस्त पुरुषो के द्वारा उपभोग्य होने से सामान्य रूप है और विषय होने से ही अचेतन है। दोनो ही कार्य को उत्पन्न करने के कारण प्रसवधर्मि हैं। क्योंकि प्रधान बुद्धि को उत्पन्न करता है, बुद्धि अहङ्कार को, अहङ्कार तन्मात्राओ को तथा ग्यारह इन्द्रियो को, और तन्मात्राएँ महाभूतों को उत्पन्न करती हैं, किन्तु पुरुष सामान्य धर्म की अपेक्षा प्रधान के समान है और अन्य धर्मों की अपेक्षा प्रधान के समान नहीं है। जैसे प्रधान भोग्य होने से सब भोक्ता पुरुषो के प्रति समान है, वैसे ही पुरुष भी भोक्ता होने से सब भोग्यों के प्रति समान है।

---

१. सांख्यकारिका, ११

२. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ ३५४

जैन :

[1]सांख्य ने प्रकृति के सद्भाव को सिद्ध करने के लिये जो पाँच हेतु दिये हैं, वे आश्रयासिद्ध नामक दोष से दुष्ट होने के कारण अयुक्त हैं। क्योंकि असंवेद्य स्वभाव होने से प्रकृति स्वरूप से ही असिद्ध है। तथा उक्त हेतु व्यधिकरणासिद्ध भी है, क्योंकि परिमितपना आदि हेतु भेदों में रहते हैं और साध्य अस्तित्व प्रकृति में रहता है।

सांख्य—उक्त हेतुओं से हम महत् आदि भेदों को ही एक कारण पूर्वक सिद्ध करते हैं, इसलिए उक्त दोनो दोष नहीं आते।

जैन—तब तो प्रधान और पुरुष से व्यभिचार का दोष आता है। क्योंकि दोनों ही एक और अनेक संख्या तथा महापरिमाण के द्वारा परिमित होने पर भी एक कारण पूर्वक नहीं हैं। तथा दृष्टान्त भी साध्य विकल है, क्योंकि घट आदि एक कारण पूर्वक नहीं हैं। सभी कार्य सहकारी और उपादान कारणों से उत्पन्न होते हैं। मिट्टी का पिण्ड भी अनेक अवयवो का समुदाय रूप होने से सर्वथा एक नहीं है। अत परिमितपने की व्याप्ति अनेक कारण पूर्वकत्व के साथ होने से परिमितत्व हेतु विरुद्ध है।

तथा समन्वय हेतु भी अनैकान्तिक है, क्योंकि प्रकृति और पुरुष में एक कारण पूर्वकपना नहीं होने पर भी नित्यपना, व्यापिपना आदि धर्मों से समानता पाई जाती है। तथा पुरुषो मे भोक्तृत्व आदि धर्मों से समानता पाई जाती है। इसके सिवाय जल और अग्नि भिन्न जातीय हैं, अत: दोनों एक ही उपादान कारण से उत्पन्न नहीं हो सकते, क्योंकि पदार्थों मे जाति भेद एक कारण पूर्वकता का विरोधी है तथा 'समन्वय' हेतु असिद्ध भी है, क्योंकि समस्त भूत सुख, दुःख और मोहमय नहीं हैं और इसलिये वे एक प्रधान से अन्वित नहीं हैं। सुखादि का प्रतिभास आन्तरिक रूप से होता है, अतः बाह्य पदार्थ सुखादिमय नहीं हो सकते। कोई भी मनुष्य चन्दन-माला वगैरह बाह्य वस्तुओं को सुख नहीं जानता, उन्हें बच्चे तक सुखकारक रूप से ही जानते हैं। कोइ भी प्रामाणिक पुरुष कार्य और कारण को वस्तुतः एक नहीं मानता।

तथा प्रधान का अस्तित्व असिद्ध होने से 'शक्तितः प्रवृत्तेः ·····' रूप हेतु भी संगत नहीं है। सर्वथा अभेद मानने पर शक्ति भी नहीं बनती, अतः उससे किसी की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? इसी तरह कारण और कार्य के भेद से प्रधान की सिद्धि करने से गधे के सीगों का भी अस्तित्व सिद्ध

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ ३५४

हो सकता है, क्योंकि गधे के सींगो की तरह प्रधान का सत्त्व भी सिद्ध नहीं है। प्रलयकाल भी असिद्ध है, विश्व का उक्त प्रकार से अविभाग भी असिद्ध है। अत उक्त हेतुओ से प्रकृति की सिद्धि नही होती।

जरा[1] देर के लिये यह मान लिया जाये कि 'प्रकृति' है तो प्रश्न होता है कि प्रकृति तत्त्व की सृष्टि मे और भूतों की सृष्टि मे स्वभाव से प्रवृत्ति करती है या किसी निमित्त के आश्रय से ? यदि स्वभाव से प्रवृत्ति करती है तो न तो नियत रूप से प्रवृत्ति हो सकती है और न प्रवृत्ति का विराम हो सकता है, क्योंकि अचेतन प्रकृति मे 'इतनी ही तत्त्व सृष्टि है और यह इसी का उपकारक है', इस प्रकार का विचार सम्भव नहीं है।

यदि प्रकृति किसी निमित्त के आश्रय से प्रवृत्ति करती है तो वह निमित्त पुरुष की प्रेरणा है या पुरुषार्थ कर्तव्यता ? पुरुष की प्रेरणा तो हो नहीं सकती, क्योंकि पुरुष को उदासीन माना है, अत 'यह इससे होता है' ऐसा अनुसन्धान उसमे सम्भव नहीं है, इसलिये वह प्रतिनियत प्रसव-क्रिया में प्रकृति की प्रेरणा नहीं कर सकता। पुरुषार्थ कर्तव्यता भी निमित्त नहीं हो सकती, क्योंकि पुरुष के निरभिलाषी होने से प्रयोजन ही सम्भव नहीं है। तथा प्रकृति जड है इसलिये 'मैं पुरुष के प्रयोजन का सम्पादन करूँ' इस प्रकार का अनुसन्धान उसमे नहीं हो सकता। जो पुरुष को इष्ट न हो उसे पुरुषार्थ नहीं कह सकते। लोक मे किसी के अभिलषित को जानकर ही 'मैं इसके अभिलषित को करूँगा जिससे यह मुझ पर सन्तुष्ट होगा' ऐसे विचार पूर्वक ही प्रवृत्ति देखी जाती है।

शायद कहा जाये कि प्रकृति का स्वभाव ही ऐसा है कि वह किसी के द्वारा प्रेरित नहीं होने पर भी और 'मैं इसकी अभिलाषा पूरी करूँगी' इस प्रकार के विचार से शून्य होने पर भी विश्व की रचना में प्रवृत्त होती है तो उसके उत्तर मे हमारा कहना है कि यह स्वभाववाद प्रमाण से सिद्ध वस्तु मे बन सकता है, जैसे अग्नि मे जलाने का स्वभाव है। प्रमाण से असिद्ध वस्तु में भी उसे मानने पर बन्ध्या के पुत्र मे भी जगत् की रचना करने का स्वभाव क्यो नहीं माना जा सकता ? अत 'प्रकृति से महान् की उत्पत्ति होती है' इत्यादि कथन अयुक्त है।

तथा यह महान् आदि जगत् प्रपञ्च प्रकृति से भिन्न है या अभिन्न ? यदि अभिन्न है तो कोई अन्तर न होने से दोनो ही कार्य या कारण कहे जायेंगे। और तब प्रकृति कारण ही है, भूतादि कार्य ही हैं, इत्यादि कथन विरुद्ध ठहरता है।

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ ३५५

जैन न्याय

भाग २

परिशिष्ट

१ सन्दर्भ-ग्रन्थ

२ उद्धृत वाक्य-सूची

३. विशिष्ट पारिभाषिक शब्दानुक्रमणिका

परिशिष्ट १

सन्दर्भ-ग्रन्थ

अष्टसहस्री : आचार्य विद्यानन्द, सम्पादक—वंशीधर, प्रकाशक—रामचन्द्र नाथारंग गांधी, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९१५।

आप्तमीमांसा : आचार्य समन्तभद्र, अनुवादक—जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर', प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् १९६७।

उपनिषत्संग्रह : सम्पादक—पण्डित जगदीश शास्त्री, प्रकाशक—मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, जवाहरनगर, दिल्ली-७, प्रथम संस्करण, सन् १९७०।

जैन न्याय : सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९६६।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकम् : आचार्य विद्यानन्द, सम्पादक—पं० नाथारंग जी, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९१८।

तन्त्रवार्तिकम् : कुमारिलभट्ट (मीमांसा दर्शन - महर्षि जैमिनी, प्रथम भाग), सम्पादक—श्री महाप्रभु लाल गोस्वामी, प्रकाशक—तारा प्रिन्टिंग वर्क्स वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९८४।

द्रव्यसंग्रह : नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव, सम्पादक—दरबारीलाल कोठिया, प्रकाशक—श्री गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, सन् १९६६।

न्यायकुमुदचन्द्र : आचार्य प्रभाचन्द्र, प्रथम भाग, सम्पादक—पं० महेन्द्रकुमार न्यायशास्त्री, प्रकाशक—माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, प्रथम संस्करण, सन् १९३८।

न्यायविनिश्चय विवरण : मूल—आचार्य अकलंकदेव, प्रथम भाग, सम्पादक—प्रो० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, सन् १९४९।

प्रमाण-नय-निक्षेप प्रकाश : सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९७०।

प्रमाणवार्तिकम् : धर्मकीर्ति, सम्पादक—स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, प्रकाशक—बौद्धभारती, नरहरिपुरा वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९६८।

प्रशस्तपाद भाष्य : प्रशस्तदेव (हिन्दी वैशेषिक दर्शन, प्रशस्तपाद भाष्य), भाष्य-व्याख्याकार—आचार्य ढुण्ढिराज शास्त्री, प्रकाशक—चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी–१, प्रथम संस्करण, सन् १९६६।

बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिकम् : सुरेश्वराचार्य, सम्बन्धवार्तिक, सम्पादक—वे० शा० रा० रा० काशीनाथ शास्त्री आगाशे, प्रकाशक—महादेव चिमणाजी आपटे, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पुण्याख्य-पत्तन (पूना), सन् १८९२।

वाक्यपदीयम् : भर्तृहरि, प्रथम काण्ड, सम्पादक—चारुदेव शास्त्री पाणिनीय, प्रकाशक—श्री रामलाल कपूर न्यास समिति, हिन्दी भवन मुद्रण यन्त्रालय, लवपुर (लाहौर), प्रथम संस्करण, वि० सं० १९९१।

वैशेषिकदर्शनम् : सम्पादक—विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी, प्रकाशक—व्रजभूषण-दास एण्ड कम्पनी, सी० के० ४०/५ ठठेरी बाजार, चौक, वाराणसी, सन् १९१९।

वैशेषिकसूत्रम् : कणाद, सम्पादक—मुनिश्री जम्बूविजय, प्रकाशक—ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, सन् १९६१।

श्रीमद् भगवद्गीता : प्रकाशक—चौखम्भा सस्कृत सस्थान, वाराणसी, द्वितीय सस्करण, सन् १९८३।

सम्बन्धपरीक्षा धर्मकीर्ति (वादन्याय सम्बन्धपरीक्षा च) सम्पादक—स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, प्रकाशक—बौद्ध भारती, पी० बा० ४९, वाराणसी, प्रथम सस्करण, सन् १९७२।

सांख्यकारिका : ईश्वरकृष्ण, सम्पादक—डॉ० रमाशङ्कर त्रिपाठी, प्रकाशक—बालकृष्ण त्रिपाठी, बी० २/२४२, भदैनी, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९७०।

सिद्धिविनिश्चय टीका : मूल—आचार्य अकलकदेव, प्रथम भाग, सम्पादक—डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, सन् १९५९।

परिशिष्ट २

उद्धृत वाक्य-सूची

अविभागोऽपि बुद्धयात्मविपर्यासितदर्शनैः ।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥
[प्रमाणवार्तिक, २।३५४] ८

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाऽभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥
[सांख्यकारिका, ९] १३५

अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाविना भाव्येकधर्मिणि ।
विशेषणत्वात्साधर्म्यं यथा भेदविवक्षया ॥
[आप्तमीमांसा, १७] ३५

[ऊ]

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि तस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥
[श्रीमद् भगवद्गीता, १५।१] ५०

[ए]

एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षं कारणं कर्म ।
[वैशेषिकसूत्र, १।१।१६] ११३

एवं विधिनिषेधाभ्यामनवस्थितमर्थकृत् ।
नेति चेन्न यथा कार्यं बहिरन्तरुपाधिभिः ॥
[आप्तमीमांसा, २१] ४२

[क]

कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं च नो भवेत् ।
विद्याविद्याद्वयं न स्याद्बन्धमोक्षद्वयं तथा ॥
[आप्तमीमांसा, २५] ४७

कार्यद्रव्यमनादि स्यात् प्रागभावस्य निह्नवे ।
प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत् ॥
[आप्तमीमांसा, १०] ११

किञ्चिन्निर्णीतमाश्रित्य विचारोऽन्यत्र प्रवर्तते ।
सर्वविप्रतिपत्तौ तु क्वचिन्नास्ति विचारणा ॥
[तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १।१।१४०] २६

कपश्लेषो हि सम्बन्धः द्वित्वे स च कथं भवेत् ।
तस्मात् प्रकृतिभिन्नानां सम्बन्धो नास्ति तत्त्वतः ॥
[सम्बन्धपरीक्षा, २] १२९

रसो रसनेन्द्रियग्राह्यः पृथिवी-उदकवृत्तिः ।
[प्रशस्तपाद भाष्य, पृष्ठ ७०] १०६

[ल]

लोयागासपदेसे एक्किक्के जे ठिया हु एक्किक्का ।
रयणाण रासीमिव ते कालाणु मुणेयव्वा ॥
[द्रव्यसंग्रह, २२] ९१

[व]

वस्तुनोऽन्यत्र मानानां व्यापृतिर्न हि युज्यते ।
अविद्या च न वस्त्विष्टं मानाघातासहिष्णुतः ॥
[बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य वार्तिक, सम्बन्धवार्तिक, १८०] ५४

वाग्रूपता चेदुत्क्रामेद् अवबोधस्य शाश्वती ।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥
[वाक्यपदीय, १।१२५] ५७

विधेयप्रतिषेध्यात्मा विशेष्यः शब्दगोचरः ।
साध्यधर्मो यथा हेतुरहेतुश्चाप्यपेक्षया ॥
[आप्तमीमांसा, १९] ४०

विभ्रमे विभ्रमे तेषां विभ्रमोऽपि न सिद्ध्यति ।
[न्यायविनिश्चय विवरण, १।५५ पूर्वार्द्ध] २७

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।
[आप्तमीमांसा, १३ पूर्वार्द्ध] २७

[श]

शक्तिः करणं कार्यम् इति त्रेधा जगत् स्थितम् ।
कार्यं भूतानि करणं ज्ञानि शक्तिः गुणत्रयम् ॥
[ ] ११२

शब्दब्रह्मणि निष्णातः परमब्रह्माधिगच्छति ।
[ब्रह्मबिन्दूपनिषद्, १७] ५९

परिशिष्ट—३

विशिष्ट पारिभाषिक शब्दानुक्रमणिका